सहजानंद शास्त्रमाला

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन

भाग - 3

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन

भाग
१ व ३
1-2-3

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर-मेरठ.

आत्म-कीर्तन

शांतमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अंतर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान,अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान
किंतु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।। २ ।।

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।। ३ ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।। ४ ।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।। ५ ।।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पुरूषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन

(प्रथम, द्वितीय, तृतीय भाग)

श्री दि. जैन ... मल्हारगंज इन्दौर

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानद" महाराज

प्रकाशक :—
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

[द्वितीय संस्करण]
१०००

सन् १९८९

[लागत मात्र मूल्य
२० रुपये

पुरुसार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन तृतीय भाग

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

सल्लेखनाका महत्व—व्रतोंके जीवनभर पालन करनेके बाद जब अन्त समय निकट आता है तो यह श्रावक भी सल्लेखनाधर्म अंगीकार करता है। सल्लेखनाका अर्थ है सत् लेखना अर्थात् भली प्रकार क्षीण करना। सत् मायने भली प्रकार लेखना मायने क्षीण करना। लिख शब्द लिख धातु से बना है जिसका अर्थ है लेपना। जो ताड़पत्र-पर लिखा जाता है वह लिखना कहलाता है। लिखनेका अर्थ है क्षीण करना। बाहरी कर्मोंको कषायोंको भली प्रकार क्षीण करना, इसका नाम सल्लेखना है। यहां श्रावक यह चिन्तन कर रहा है कि एक सल्लेखना ही पालित धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले चलनेमें समर्थ है। जो हमने जीवनभर व्रत पालन किया है और जो कुछ हमने अपने आपमें विशुद्धि का संचय किया है यह सबका सब धर्म मेरे साथ चले, इसके लिये आवश्यक है कि सल्लेखना अवश्य हो। क्योंकि मरण समयमें यदि परिणाम निर्मल न रहें, विषय कषायरूप हो गए, मोहरूप हो गए तो ऐसी परिस्थितिमें मरण होनेपर इस अज्ञानका संस्कार अगले भवमें भी जायेगा। मरण समयके बीचमें संस्कार बदला नहीं जा सकता। अर्थात् मरण समय तो हो खोटा परिणाम और मरनेके बाद कुछ कुछ बीचके समयमें वह परिणाम बदल दे और एकदम विशुद्ध बने तो वहाँ शक्ति है। जिसका जीवनमें बड़ा खोटा परिणाम था वह मरण समयमें अच्छा परिणाम भी बना सकता है, मगर मरण समयका संस्कार जन्म समय तक चलेगा और जन्म समयमें जिसकी शुरुआत होती है समझिये कि उसका निर्वाह भी उसी प्रकार प्राय: होगा बदला जा सकता है मगर कठिन न. मरणके समयमें जो परिणाम बना है, जबकि मरण होने ही वाला है जिसके बाद समझो कि कुछ समयमें ही मृत्यु होनी है तो उस समयमें जो जो परिणाम मरने वाले का बन गया वह संस्कार बदला नहीं जा सकता। न बदलनेका कारण है कि मरण समयमें जो परिणाम बना, अब उसको बदलनेके लिये विशिष्ट मन चाहिए, सावधानी चाहिए, विवेक चाहिए। इसके लायक अब उसकी इन्द्रियां और मन समर्थ नहीं हैं। इस कारण जो संस्कार बना मरणके समयमें वह जन्मके समयपर पहुँचता है और फिर जिसका आरम्भ ही खोटा हो उसका बहुत समय तक जीवन चलेगा। इस तरहसे यह श्रावक विचार कर रहा है कि हमने सारा जीवन धर्ममें व्यतीत किया, अब उसमें जो हमारे विशुद्ध परिणामोंका हुआ है उस समस्त धर्मधनको ले जानेमें समर्थ एक सल्लेखना है, इस कारण भक्तिपूर्वक मरणके सममर्में सल्लेखनाकी निरन्तर भावना बनाये रहना चाहिए।

(पृष्ठ १६१ का शेष)

समझना चाहिए कि जो इस प्रकार खेद मानते हैं और आहार बनाते हैं उन्हें आहार बनाना ही न चाहिये। खेद मान कर दान देने वालेको तत्त्व क्या मिला, लाभ क्या मिला? समय भी बरबाद हुआ, क्लेश भी सहा। जो पुरुष गुणानुरागी होते हैं तो कुछ थोड़ासा स्पेशल भी हो जाय तो भी उनके अन्दर रंच मात्र भी खेद नहीं होता, बल्कि हर्ष होता है और सारा स्पेशल भोजन बने तो मुनिजन वैसा भोजन नहीं करते हैं। हां, साधुके लिये आहार बना रहे हैं, तो उसमें कुछ और विशेष कर ले वह बात और है, मगर वह उनके लिए ही बनाया जाय तो ऐसा आहार मुनि नहीं लेते हैं। यदि सबके लिए बना हुआ भोजन है उसमें से आहार गृहस्थ देवे, विषाद न करे तो वह अहिंसास्वरूप है। यों अतिथिसंविभाग व्रतमें अहिंसाव्रतकी सिद्धि हुई।

● पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ●

आवीचिमरण और तद्भवमरण दोनों मरणोंमें सल्लेखनाकी आदेयता—मरण दो प्रकारका होता है—एक तो आवीचिमरण और एक तद्भवमरण। तद्भवमरण नाम तो एक पर्याय छूटनेका है। जिस पर्यायमें हम रह रहे हैं उसके छूटनेका नाम तद्भवमरण है, आवीचिमरण तो प्रति समय हो रहा है। जीवनका एक एक क्षण गुजर रहा है उसको एक-एक क्षण हम मर रहे हैं। किसीकी ४० वर्षकी उमर हो और किसीकी ५० वर्षकी हो तो लोग तो यों कहते हैं कि यह इससे १० वर्ष बड़ा है, पर तथ्य यह है कि वह १० वर्ष घाटेमें है। तो यह है आवीचिमरण। प्रथम तो यह प्रकरण तद्भवमरणका है। जब तद्भवमरण निकट आये तो उस समय विषय कषाय आहार आदिकका त्याग कर देना चाहिए। आहारके त्याग करने का मुख्य प्रयोजन मरण समयमें यह है कि शरीर की विशुद्ध स्थिति रहे, शरीरमें सावधानी रहे और वेदना कम रहे। इसका सहायक है आहारका त्यागना। इस मर्मको न जानने वाला एक धर्मका नाम ही रखना आहारका त्याग करता है कि हमको समाधिमरण करना है सो आहारका त्याग है। साथमें यह न भूलना चाहिए था कि आहारका त्याग करने से शरीरकी स्थिति अच्छी रहती है, सावधानीकी रहती है और वैसे भी अनुभव किया होगा कि जब कोई रोगकी परिस्थिति होती है तो उस समय आहारका त्याग करनेसे उसपर काबू जल्दी बना लिया जाता है, रोग दूर हो जाता है और उस पर आहार करके शरीरकी स्थिति बिगडती है। तो मरण समयमें शरीरकी स्थिति एक ऐसी शिथिल हो जाती है कि महारोग आये, मरणके कालमें यदि कोई खाता ही रहे तो खानेसे उसका रोग बढ़ेगा, बेसुधी होगी, असावधानी होगी साथ ही विकल्प बढ़ेंगे, मोह रागद्वेष भी ठहरेंगे तो उसका भव बिगड़ जायेगा। तो परिणामोंकी संभालके लिए ही आहारका परित्याग है, तो आहारके परित्यागकी जो विधि है उस विधिमें पहिले मोटे आहारका परित्याग किया जाता है, जैसे अन्नका परित्याग, बादमें फिर पेय आदिक पदार्थ हैं उनका भी परित्याग हो। पश्चात् छांछ रखा जाता है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे छांछ शोधक तत्त्व है, इसके बाद जल। फिर जलका भी त्याग कर दे। आहारके परित्यागके साथ ही साथ विषय कषायोंका भी परित्याग है, उसे सल्लेखना कहते हैं। इन सब विधानोंमें कषायसल्लेखना प्राथमिक है।

सर्वधर्मस्व ले जानेके लिये सल्लेखनाका समर्थ वाहन—यह श्रावक चिन्तन कर रहा है कि हमने मनुष्यरूपी देशमें एक अणुव्रतरूपी व्यापार किया, उससे जो धर्मरूपी धन कमाया है अब इसको हम साथ ले जायेंगे जहाँ हम जा रहे हैं। तो कोई एक आधार होना चाहिए जिसमें भरकर हम ले जायें। जैसे कोई मनुष्य किसी देशमें व्यापार करके धन कमाता है तो धन ले जानेके लिये रेलगाड़ी अथवा जहाज आदिक कोई साधन चाहिए। इसी प्रकार हम व्रत नियम पाल करके धर्मधनको परलोक देशान्तरमें लिए जा रहे हैं तो उसका आधार सल्लेखना है। जिसको मरण समयमें ऐसा वातावरण मिला, ऐसा परिणाम बढ़े कि मोहका बिल्कुल परित्याग हो, रागद्वेषकी ओर उपयोग न जाय और आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि रहे, अपने आपकी प्रतीति ज्ञानमात्र रूप रखें, ऐसी स्थितिमें मरण समय गुजारे तो उसका वह क्षण धन्य है। तो अपना यह भावी जीवन सफल करने के लिये अथवा संसार दुःखसे छुटकारा पाने के लिये यह आवश्यक है कि मरण समयमें सल्लेखना हो, संन्यासपूर्वक मरण हो। जैसे किसीने किसी देशमें पहुंचकर बड़ा कष्ट उठाकर बहुत धन कमाया और चलते समय वह किसीको यों ही सौंप दे तो उसका वह धन शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा और जीवन भर उसने जो श्रम किया वह व्यर्थ ही किया, इसी प्रकार अपने इस जीवनमें तप, व्रत, संयम, पूजन, स्वाध्याय आदिकको करके बहुतसा धर्मधन कमाया है और उसे यों ही किसीको सौंप दें अर्थात् चलते समय अपने परिणाम बिगाड़ लें तो वह सब धर्मधन नष्ट हो जायेगा, दुर्गति हो जायेगी, इस कारण मरण समयमें सल्लेखना अवश्य करना चाहिए।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

मरणकी निकटतामें सविधि सल्लेखनाका संकल्प—मैं मरण समयमें अवश्यही विधिपूर्वक समाधि मरण करूंगा, ऐसी भावनासे प्रवृत्त होकर कल्याणार्थी पुरुषोंको उस मरण समयसे पहिले ही सल्लेखना व्रतका पालन करना चाहिये। परमार्थसे आवीचिमरणकी दृष्टिसे देखो तो हमारा प्रति समय मरण हो रहा है। तो हमें चाहिये कि प्रति समय अपना समतापरिणाम रखें, विषय कषायोंका परिहार रखें, ऐसा हमारा प्रयत्न हो तो वह उत्तम बात है और ऐसा किए बिना वह अभ्यास भी नहीं बनता कि मरणके समयमें परिणाम विशुद्ध रहें। कोई ऐसा नियम नहीं है कि जीवन भर तो खोटा परिणाम रहा हो और मरण समयमें परिणाम सुधर न सकें। सम्भव है मरणके समयमें परिणाम सुधर भी सकते और बिगड़ भी सकते। मरणके समयकी बड़ी विचित्र घटना है। जैसे जब कभी किसीको बड़ा रोग अथवा कोई बीमारी हो जाती, मरणकी ही जिसमें सम्भावना रहती है वह उस समय यही वाञ्छा रखता है कि इस बार कदाचित् मैं मरणसे बच गया तो शेष सारा जीवन धर्मध्यानमें बिताऊंगा, पर होता क्या है कि ज्यों ही बीमारी दूर हुई कि फिर वही पहिले जैसी हालत हो जाती है। धर्मकर्मको वह भूल जाता है। तो मरण समयमें हमारे परिणाम सही रह सकें, इसके लिये यह कर्तव्य है कि हम अपने जीवनमें समताका आचरण करें और उस सल्लेखना का अभ्यास बनायें। सल्लेखना मरणका दूसरा नाम सन्यास मरण भी है। संन्यासका अर्थ है सर्व बाह्यपदार्थोंका त्याग करना और अपना जो परमात्मतत्त्व है उसमें अपना उपयोग जमाना। इस जीव की प्रति समय आयु क्षीण हो रही है। जैसे अँजुलीमें पानी रखे हो तो एक जलका एक-एक बूँद झरता रहता है इसी प्रकार जन्म कालसे मरण प्रारम्भ होता है और अन्त समय तक यह आयु क्षीण होती रहती है। तो उसका परिणाम यह है कि मरण निश्चयसे होगा। इससे मृत्युके पहिले ऐसी प्रतिज्ञा कर लेना चाहिये कि मैं मरण में अवश्य सल्लेखना धारण करूंगा।

सल्लेखनामें स्वभावदृष्टि बनाये रहनेका यत्न—एक ही तो बात है—स्वभावदृष्टि। जितने भी हमारे व्यवहार धर्म हैं, व्रत पालन हैं, नियम पालन हैं, सल्लेखना मरण है, आदि ये सब एक स्वभावदृष्टि बनानेके लिये है। अविकारी ध्रुव निजस्वभावको अपनी दृष्टिमें बनाये रहना यही धर्मपालन है। यह कर सके तो वास्तविक तपश्चरण बन गया और यह न कर सके तो कुछ नहीं बना। किसी जगह हो, कैसी ही परिस्थितिमें हो, सम्पदामें, विपदामें, आराममें विश्राममें, छायामें धूपमें, सभी स्थितियोंमें इस जीवकी दृष्टि अपने आपके स्वभावपर है अर्थात् स्वभावमात्र अपने आपमें अहंकी प्रतीति बनाये हुए है तो वह धर्मपालन कर रहा है। धर्मके विषयमें जितने भी शास्त्र हों, निबन्ध हों, सभीका सार यही है कि अपने आपकी ऐसी प्रतीति हो, ऐसा उपयोग हो कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं जो जाननस्वरूप है तन्मात्र मैं हूँ और उस जाननभावका जो प्रतिसमय परिणमन चलता है बस वह मेरा कर्तृत्व है, कर्तृत्व भी कुछ नहीं, परिणमन को ही कार्य कहते हैं, परिणमने वाले को कर्ता करते हैं। कर्ता तो कोई भी द्रव्य नहीं है, न परका कर्ता है, न खुदका। परमें करे क्या, खुदमें करे क्या, किन्तु जो परिणमन हो रहा है उस परिणमनमें कर्तापनका व्यवहार किया जाता है। वैसे लोक व्यवहारमें कर्ता कहेंगे परका। कुम्हार ने घड़ा बनाया। अगर कुम्हार यों ही खड़ा-खड़ा हाथ हिलाये तो कोई न कहेगा कि कुम्हार कुछ कर रहा है, लोग तो यही कहेंगे कि यह व्यर्थ में नाच रहा है। कर्ता बोला जाता है लोक व्यवहारमें परके प्रति। तो परको कोई नहीं कर सकता और स्वके प्रति कर्ता का व्यवहार ही नहीं है, कोई बोलता ही नहीं है कि यह क्या कर रहा है, तो कर्तृत्व नाम कुछ नहीं रहा, बस परिणमन है। उस परिणमनकी दृष्टिसे सब पदार्थों को देखिए, सभी परिणमन रहे हैं। अब व्यवहार दृष्टिसे देखें तो जितने विभावपरिणमन हैं वे विभावपरिणमन यद्यपि वह पदार्थ स्वयं परिणम रहा है, दूसरे की परिणति लेकर नहीं परिणमन रहा हैं, मगर उस विभावरूपसे परिणम जानेकी कलामें उस परिणमने वाले पदार्थमें ऐसी पड़ी हुई है कि वह अमुक-अमुक अनुकूल निमित्त पाकर यों यों विभावरूप परिणम जाता है। जैसे अग्निपर रोटी सिकती है तो रोटी सिक जाने की बात रोटीमें बनती है। अग्नि तो अब भी जहाँकी तहाँ पड़ी है। रोटीसे अलग आग है और रोटी जो फूल रही

है वह अपने प्रदेशोंमें फूल रही है। मगर रोटी रोटी तैयार हो जानेकी कला जो रोटीमें होती है वह आगका सन्निधान पाकर होती है, इतना होने पर भी परिणमनको देखो, प्रदेशों को देखो—प्रत्येक वस्तु केवल स्वभावरूपसे परिणमती है, वह अपने स्वभावमें है ही। अगर विवेक रूप भी कोई पदार्थ परिणम रहा हो तो वह अपने प्रदेशोंमें अपनी ही परिणतिसे विभावरूप परिणम रहा है। इतनी बात और साथ लगी हुई है निर्णयमें कि इस तरहके विभावरूप परिणमनकी कला निमित्त का सन्निधान पाकर ही बन पा रही है। तो धर्मपालन हमारी इस स्वभाव दृष्टिमें ही है, हम अपने आपके शुद्ध जीवास्तिकायमें अपने आपको निरखें तो यही हमारा धर्मपालन है। शुद्ध जीवास्तिकायके मायने यह जीव अपने प्रदेशोंमें ही बस रहा है। विभावरूप परिणमे तो भी और स्वभावरूप परिणमे तो भी वह अपने ही परिणमनमें परिणमेगा। शुद्ध अशुद्ध जो भी परिणमन होगा वह खुदके प्रदेशोंमें ही होगा। केवल अपने प्रदेशोंमें निरखनेकी बातको शुद्ध जीवास्तिकाय कहते हैं, अन्य धर्मास्तिकायोंसे अन्य पदार्थों में संसर्ग जोड़नेका केवल एक परिणमन निरखने का नाम अशुद्ध स्वभाव है। तो मैं अपने आपमें हूं, अपने आपमें परिणमता हुं, अपने आपमें बस रहा हूं और इससे कुछ विशुद्ध दृष्टि बनाकर अपने आपमें अपने सहज स्वभावको निरखा, यही है हमारा धर्मपालन।

ज्ञानीके सर्वत्र स्वभावदृष्टिके यत्नकी सुध—ये जो पूजन वन्दन यात्राएं आदि कर रहे हैं इनमें यह ख्याल बनाये रखना चाहिए कि हमें ऐसी दृष्टि मिले, ऐसी परिस्थिति कभी आये कि अपनी स्वभावदृष्टि का अनुभव जगे। यदि इस प्रकारकी भावना न बन पायी तो समझिए कि अभी धर्मपालन नहीं हुआ। क्योंकि धर्म होता है शान्ति के लिए। शान्ति का ही नाम धर्म है। शान्ति रूप परिणाम किसी भी परपदार्थ का आलम्बन लेने से न प्राप्त हो सकेगा। चाहे कितनी ही मौज वाली बात है, कितना ही बहुत खासा समागम हो, बड़ी सुविधायें बनी हों, खाने पीने तथा आजीविका आदि के साधन बने हों, फिर भी यदि हमारी दृष्टि किसी परकी ओर चलती है तो उसके परिणाम में नियमसे अशान्ति होगी। उस परिणाम की कला ही ऐसी है। अपने आधार को छोड़कर किसी बाह्यमें परकी ओर आधार बनाया, दृष्टि बनाई तो ऐसी परिस्थिति बनाने की प्रकृति ही ऐसी है कि अशान्तिको लिये हुए है, ऐसी परिस्थिति होती है। तो हमें धर्मपालन करना है इसके अर्थ समझिये कि हमें शान्ति से रहना है, मुझे अपना वास्तविक आराम चाहिये, उसी के मायने हैं कि हमें अपना धर्म चाहिए। धर्ममें ही वास्तविक आराम है, वह धर्म है स्वभाव का आलम्बन। धर्म का स्वरूप बताया है वस्तुके स्वभाव को धर्म कहते हैं। हमें अपना धर्म चाहिये तो अपने स्वभाव को तकें। आत्माका स्वभाव है एक चैतन्यस्वरूप, चित्प्रकाश, चैतन्यस्वभाव। उस स्वभाव का आश्रय लेनेमें स्वभाव की प्रतीति करनेसे, स्वभावको उपयोगमें लेनेसे उसका ज्ञान बनाये रहे इसका नाम है धर्मपालन। यही चीज करना है जीवनमें और यही बात लाना है मरण समयमें। यह बात यदि ला सके तो हम धर्म धनको परभवमें भी साथ लिये जा रहे हैं, ऐसा निश्चयसे समझना चाहिये।

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्यनामघातोऽस्ति ॥१७७॥

कषायसल्लेखनामें रागादिभावके अभावके कारण आत्मघातके दोषका अभाव—अवश्यंभावी मरण होने पर अर्थात् मरण निकट आ रहा है, कुछ ही समयमें मरण होगा, ऐसी स्थिति आ जाय कि जो कषायोंकी सल्लेखना कर रहे हैं, कषायोंको कम कर रहे हैं अथवा कषायें दूर कर रहे हैं, ऐसी सल्लेखना विधिसे जो प्रवर्तमान पुरुष है उसके रागादिकभाव नहीं हैं अतः आत्मघात नहीं है। इन सबका आधार अहिंसा बताया है। अहिंसाकी यदि सिद्धि है तो ये व्रत तप नियम आदि ठीक हैं। अहिंसाकी सिद्धि होनी चाहिए। प्रत्येक यम नियममें यह हमें जान लेना चाहिये कि इस अहिंसाकी सिद्धि किस तरह होती है? अहिंसा नाम रागादिक भावोंके होनेसे हमारे आत्माका घात होता है, अर्थात् जो हमारा परमात्मस्वरूप है, कारणसमयसार है, स्वभाव है, चैतन्य प्रभु है उसका विकास वह सब रुक जाता है तो समझें कि इससे हमारे परमात्मतत्त्वका घात हुआ, यही अहिंसा है। तो सल्लेखनामें आचार्यदेव यह

बतला रहे हैं कि इसमें आत्मघात नहीं है, आत्मरक्षा है क्योंकि सल्लेखनामें इस जीवने कषायों का परित्याग किया है। अपने आपमें ऐसा अनुभव बनानेका यत्न रखना कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, देखिये रागादिक भाव ये अपने आप हट जाते हैं। अपनी हिंसा स्वयं दूर हो जाती है। जब यह परिणाम बनाया कि मैं ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानमात्र होनेका जो स्वरूप है उसे जब दृष्टिमें रखते हैं कि यह केवल विकल्प कर सकने भरका काम कर रहे हैं आज तक। इससे आगे कुछ नहीं बढ़ा यह जीव। भव-भवमें जन्ममरण अनेक किये। अनेक इष्ट अनिष्ट समागम पाये और उन समागमोंको कैसे पाया, कैसे त्यागा ? ऐसा भी करता रहा तो क्या किया उन सब घटनाओंमें ? विकल्प किया। जब यह पुरुष आत्माके ज्ञानमात्र स्वरूपको समझ लेता है तब रागादि विकार स्वयं टल जाते हैं।

सल्लेखना के यत्नमें आत्मरक्षण—यह अमूर्त आत्मा जो किसी को न ग्रहण करता, न छोड़ता, न जलाने से जलता, न हवासे उड़ता ऐसा अमूर्त यह आत्मा बाहरमें क्या कर सकता है ? जो कुछ कर पायेगा अपनेमें कर पायेगा। सो क्या कर पाता है ? एक विकल्प ज्ञानका ही अशुद्ध परिणमन। उल्टा परिणमन, परको अपनानेका भाव. यही कर पाया इस जीवने अब तक तो देखिये किया भी कुछ नहीं। कर सका केवल अपनेमें विकल्पभर। लेकिन विडम्बना इतनी बड़ी बनी कि संसारमें इस प्रकारके शरीरों को धारण करना पड़ा। जैसे कोई पुरुष किसीके बारेमें कुछ बुरा इरादा रखे, और कर न सके बुरा, अथवा बुरा करनेके एक टाइममें वह अपने भाव बदलकर मित्र बन जाय, उसका बुरा न करे तो चूंकि वह बुरा नहीं कर सका इसलिए अथवा इरादा बदल गया इसलिए बुरा न किया जानेकी स्थितिमें लोग उसे झट क्षमा कर देते हैं। क्या हुआ ? बुरा सोचा था, पर बुरा किया नहीं और अगर बुरा कर चुकने पर क्षमा मांगे तो मुश्किलसे क्षमा की जाती है। तो जहाँ अपने परिणाम बिगड़ गये, अर्थात् अज्ञानरूप परिणाम अपने बनाया तो संसारका परिभ्रमण, नाना प्रकारके शरीरोंमें बंधना और अनेक प्रकारके क्लेश भोगना अनिवार्य ही है। जहाँ भीतरमें व्यर्थके विकल्प मचाया, बस इसी अपराधके कारण सारे झंझट झगड़े खड़े हो जाते हैं। अपराध वास्तवमें क्या है ? जो आत्माका स्वरूप है, आत्माका ज्ञान है उसमें दृष्टि न लगाकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि लगाना है यही वास्तवमें अपराध है। यह राधा अर्थात् यह आत्मस्वरूप जब नहीं मिलता, परपदार्थोंमें ही दृष्टि लगी रहती है यही वास्तवमें अपराध है। यदि कोई पुरुष अपने अन्दरमें ऐसा अपराध न कर सके, ज्ञानमय रहे और उस पुरुषके निमित्तसे या उस पुरुषका ख्याल कर करके करोड़ों प्राणी खेद मानें, दुःखी हों तो इससे इसका अपराध न माना जायेगा। यदि स्वरूपसे विरुद्ध न हो तो वह अपराधी नहीं है, तो रागभाव होना विकल्प होना यह अपराध है। संन्यास मरण करने वाले पुरुषके उस कालमें ये रागादिक भाव नहीं हो रहे, इस कारण उसके आत्मघात नहीं है, अहिंसाकी स्थिति है। जब कोई पुरुष किसी निमित्तसे अपनी स्थिति देखकर शरीरकी स्थिति निरख कर जब यह जान जाय कि मरणकाल निश्चयसे आयेगा तो समाधिमरण कर लेना चाहिए। समाधि मरणमें रागद्वेष मोह भावका अभाव होता है इसलिए आत्मरक्षा है, आत्मघात नहीं है, अहिंसा है। सल्लेखनामें धर्मकी स्थिति बसी हुई है अतएव यह महान् आदरके योग्य व्रत है। हम आप सबको यह भावना बनानी चाहिए कि जीवनभर हमारे समतापरिणाम रहे, यथाशक्ति आत्मस्वभाव का आलम्बन रहे। यदि इस स्वभाव आलम्बनरूप धर्मको लेकर मरण होता है तो हमारा अगला भव भी अच्छा रहेगा, धर्मका प्रसंग मिलेगा और हम अपने रत्नत्रय धर्मकी साधनामें बढ़ते चले जायेंगे।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥१७८॥

कषायाविष्ट होकर अपने प्राणव्यपरोपण करने में आत्मवधका दोष—जो पुरुष कषायमें आविष्ट होकर श्वास निरोध कर, जलमें डूबकर, अग्निमें जलकर या विष खाकर या शस्त्रसे प्राणोंका घात करे तो उसके तो आत्मघात ही है। एक यह प्रश्न किया था कि कोई मुनि संयमकी रक्षाके लिए जाने कि अब बहुत तीव्र वेदना है या खोटी परिस्थिति है उस समय यदि अपने आप श्वासको रोक ले, मुख और नासिका बन्द कर ले तो वह संन्यासमरण

होगा कि नहीं ? भाव उसका संयम रक्षाका है, अब संयमकी रक्षा हो नहीं पाती तो अब श्वास निरोध करे, प्राण विसर्जन करे समतासे । तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह प्राण विसर्जन नहीं है क्योंकि संयमकी रक्षाका भाव वालेको श्वास निरोधका विकल्प नहीं रहता । जान बूझकर श्वास रोककर मरना या कोई यह सोचे कि अपने आप छुरी चक्कू भोंक लें, तो ये सब बातें कषायमें होती हैं, समतापरिणाममें रहकर नहीं होती हैं, इस कारण ये सब आत्मबध हैं, संन्यास मरण नहीं हैं, जिसने जीवन भर व्रत पालन किया उस पुरुषको अन्तमें संन्यासमरण करना चाहिए । विषय कषाय आहार आदिक त्यागकर समतासे रहना चाहिए । कोई प्राणी कषायसे आत्मघात करले तो उसका वह आत्मघात है, बध है, संन्यासमरण नहीं है, जैसे कोई सोचे कि तीव्र वेदना हो रही है, इसमें संक्लेश की सम्भावना है, संक्लेश बढ़ जायेगा इसलिए इस नदीमें कूद जावें और प्राण विसर्जन करें तो संयमकी रक्षा हो जाय तो उसके संयम की रक्षा नहीं है । जब शरीर किसी असाध्य रोगोंसे ऐसा शिथिल हो जाय कि मरणकी सम्भावना हो या कोई देवता मनुष्य आदिक ऐसे उपाय करें कि जिनके मरणका निर्णय हो अथवा कोई बड़ा दुर्भिक्ष पड़े जहाँ आहार बनना सम्भव न हो सके, ऐसी स्थितिमें या बुढ़ापेमें इतना आ गया है कि जर्जरकाय हो गयी और मरण निकट है ऐसी परिस्थितिमें संन्यास मरण किया जाता है ।

अद्यतन युगमें नियमसल्लेखनाकी श्रेयस्करिता—संन्यास मरण बहुत सोच समझकर ग्रहण करना चाहिये और आजकलके समयमें तो नियम सहित सल्लेखना प्रायः करके धारण करना चाहिए कि दो दिन तक त्याग है, जीवन रहेगा तो फिर सोचेंगे । यह बहुत कुछ सम्भव है कि नियम ले लिया आजीवन आहारके त्यागका और कदाचित् आहारके लंघनसे जीवन बच जाय जीवन रह जाय तो संक्लेश सहित मरनेसे तो दुर्गति ही होगी । अतः प्रायः करके नियम लेकर सल्लेखना ग्रहण करना ठीक है । हाँ, जब मरणका बिल्कुल निश्चय समझ लेता है कोई तो वह समाधिमरण करता है और मरणका निश्चय समझना इस कालमें कठिन है । इस कारणसे एक नियमित सल्लेखना धारण करना चाहिये, क्योंकि सल्लेखना रहित मरण हो तो वह बुरा है । सल्लेखना कहते ही उसे हैं जिसमें कषाय न होकर समतापूर्वक मरण हो । प्रथम तो यह शरीर एक संयमका बाह्यसाधनभूत है जब तक जीवन चल रहा है, संयम पालन कर रहा है तो संयमकी रक्षाके लिये उसे आवश्यक हो जाता है कि शरीरको आहार पानी देवे । प्रथम तो जहाँ तक सम्भव है कि शरीरकी थोड़ी सेवा कर देनेसे यह शरीर निर्बाध हो जायेगा, संयम हम निर्बाध पाल सकेंगे तो शरीरको आहार देना जरूरी है । एकदम भावुकतामें न आयें कि हम तबियत बिगाड़ लें, समाधि बिगाड़ लें । प्रथम तो शरीरको धर्मका बाह्य साधन मानकर शरीरको आहार आदिक औषधि दें । जब रोग असाध्य ही हो जाय, किसी भी उपचार से लाभ की सम्भावना न दीख रही हो तो जैसे दुष्ट पुरुषका परिहार कर दिया जाता है ऐसे ही आहार आदिक सभी चीजोंका कुछ नियमित समयके लिये परिहार कर देना चाहिए ।

हितमय विवेक—ऐसा समझना चाहिए कि यह आत्मा तो ज्ञानानन्द स्वरूप है और यह शरीर भूख प्यास सर्दी गर्मी रोग आदिक समस्त व्याधियों का घर है । इष्ट अनिष्ट की बुद्धि, सम्मान, अपमान आदिक की बुद्धि—ये सब इस शरीरके ही कारण होते हैं । शरीरमें आपा बुद्धि करते हैं और अपने आत्म स्वरूप पर दृष्टि ही नहीं जाती है । इस आत्मस्वरूपकी दृष्टिपर पहुंचनेका यह जीव लक्ष्य ही नहीं बनाता है । इस देहाध्यासकी स्थितिमें अज्ञानी जीवोंको यह आभास नहीं हो पाता कि मैं ठीक ढंगसे चल रहा हूं या नहीं । ज्ञानी जीव तो सभी स्थितियोंमें यह सन्तोष कर लेता है कि मैं ठीक परीक्षामें चल रहा हूं । वह ज्ञानी पुरुष अपनेको जान सकता है कि मैं ठीक मोक्षके रास्ते पर हूं या नहीं । वह अपने आपको मोक्ष मार्गमें बढ़ानेके लिए बड़ा साहस किये हुए है । वह तो जानता है कि यहां कोई यदि अपना अपमान करे तो वह अपने लिए अच्छी बात है । उससे मैं अपने आत्माको देख सकता हूं, सबल बना सकता हूँ और प्रसन्न रह सकता हूं । यदि मैं अपमानकी स्थितिमें प्रसन्न रह सका तो मैंने बहुत कुछ पाया । इस परीक्षणका इसे मौका मिलता है । यह शरीर सब दुःखोंका बाह्य साधन है । किसी पुरुषने प्रशंसा कर दी इस शरीरको

देखकर तो यह अपने आपमें न समाकर बाह्य दृष्टि बना लेता है। लोगोंको निरखकर अपनेमें बड़ा मौज माना जा रहा है। अपने आत्माका उपयोग चूंकि बाह्यमें लगा तो उसे क्षोभ होता है और खुद अनुभव कर सकते हो कि क्षोभ रहता कि नहीं। किसीने थोड़ीसी प्रशंसा कर दी तो वे इसे रुच गये, और उनके सुखी करनेके लिये यह बड़ा परिश्रम करता है, उनके पीछे यह अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करनेको तैयार रहता है। शरीरमें सन्मान अपमान की बात आना शरीरमें आत्मीयताकी बुद्धि है। इस चैतन्यस्वरूपकी बात यथार्थ निश्चयमें यह है कि यह आत्मा अपने विकल्पोंसे बरबाद हो रहा है। पुद्गलके विपाकसे हुए विकल्प व कषाय तो बरबादी तो हैं, ही, लेकिन ये शरीर आदिक आश्रय हैं, अतः इस देहको दुष्ट मानकर इसका परिहार करें। कब ? जब यह जान लें कि विकार पर भी मेरा जीवन नहीं रह सकता। यह देह तो वियुक्त होगा ही। यह तो देह फिर भी मिल जायेगा, करने मिल रहा है जीवोंको, लेकिन संन्यासमरण, धर्मपालन, धर्मसंस्कार ये अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सल्लेखनाव्रतीका मौलिक विचार—समाधिमरण के समय ज्ञानी पुरुषका यह विचार बनता है कि देहके त्यागनेमें दुःखी न होना चाहिये बल्कि इस बात पर प्रसन्न रहना चाहिये कि मैं अपने समता परिणाम को लिए हुए जा रहा हूं, मैं अपने स्वभावको, अपने स्वरूपको, अपने उपयोगको लिए हुए जा रहा हूं, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। ये जन्म जरा मरण आदिक मेरे नहीं हैं। मैं तो एक स्वतः सत् हूं। जो सत् है उसका उत्पाद क्या, अथवा व्यय क्या ? जो दृढ़ पुरुष ज्ञान और वैराग्यमें बढ़े हुए हैं और अपने रत्नत्रयके बलसे अपनेमें उत्पाद बनाये हुए हैं ऐसे पुरुष वृद्धावस्थामें भी एक आत्मबलमें युवा जैसे पाये जाते हैं। तो जिनके आत्माका ज्ञान है उनका यह चिन्तन है कि ये जन्म जरा मरण आदिक मेरेमें नहीं हैं। ऐसा ज्ञानी पुरुष निर्ममत्व होता है। वह शास्त्रामृतका पान करके, जिस वचनको श्रवण करके अपनी कषायोंका परित्याग करता है। ऐसा करने के लिए वह चार प्रकारके संघ और साक्षीपूर्वक मरणका संकल्प करता है।

सल्लेखनाव्रतीकी आन्तरिक पात्रता—वह कितना पूज्य पुरुष है जो समाधिमरण कर रहा है उसके अन्दर कितना आत्मबल है ? धन्य है वह ज्ञान, वह उपयोग जो मरणको कुछ न गिनकर समतापरिणाम को महत्व दे रहा है और मोह रागद्वेषसे हटकर अपने आत्मामें स्थिर होना चाहता है। अन्त समयमें ऐसी धर्म आराधना बने तो जीवन भर किये हुए जो व्रत नियम धर्मसाधन हैं वे सब सफल हो जायें और जिसके जो संस्कार बना है मरण समय उसके बेहोशी आ जाय, अथवा कुछ शारीरिक उपद्रवोंके कारण वायुके जोरसे बड़बड़ाने लगे, कुछ अन्य प्रकारकी चेष्टा शरीरमें होने लगे, तिसपर भी ज्ञानका संस्कार बसाया है तो उस जीवके अन्दर उस ज्ञानका प्रकाश बना हुआ है। जैसे सोया हुआ पुरुष मुर्दासा पड़ा दीखता है पर भीतरमें उसके कल्पनायें भी जग सकती हैं, स्वप्न भी आ सकता है, ज्ञान भी चल रहा है तो जैसा उसने संस्कार बसाया, उस संस्कारके माफिक सोई हुई परिस्थितिमें भी ज्ञान चलता रहता है। यदि ऐसे ही मूर्छित दशा हो जहाँ इन्द्रियां काम न करें वहाँ पर भी संस्कारके अनुसार ज्ञान की बात चलती रहती है। दोनों दशायें एकसी हैं। सोया हुआ पुरुष भी मूर्छित है, तो मूर्छित होनेकी स्थितिमें भी इन्द्रियां काम नहीं कर रहीं, तिस पर भी जैसा संस्कार बसा है वह बात बराबर चल रही है। ज्ञानीसम्यग्दृष्टि पुरुष ने जो तत्वाभ्यास बनाया है ऐसा तत्वाभ्यासी पुरुष मरण कालमें मूर्छित हो जाय तब भी उसका वह अभ्यास बराबर वहाँ संस्कार बनाये रहता है। उसमें उपयोग बनना, आत्मतत्त्वको छू लेना यह बात उसके अन्दरमें चल रही है जिसने जीवनमें तत्त्वाभ्यास किया है।

समाधिमरणमें अतीव सावधानताकी आवश्यकता—अन्त समयमें संन्यासमरणकी बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। यदि अन्तमें मरण समय बिगड़ गया तो जीवनभरका सारा श्रम व्यर्थ हो गया। सारा जीवन भरका संयमका श्रम एकदम निष्फल तो नहीं जाता मगर हीन हो जाता है। कोई सोचे कि मरण समयमें यदि परिणाम बिगड़ा तो जीवन भरका सारा श्रम व्यर्थ जायेगा, यदि ऐसी बात है तो फिर क्यों जीवन भर ये क्रियायें करना, अन्त

में धर्मधारण कर लेंगे तो सारा काम बन जायेगा क्योंकि अन्तमें जैसा परिणाम होता है वैसी ही गति बनती है। तो ऐसी बात नहीं है। जीवनभर ये संयमकी क्रियायें करना चाहिये तब अन्तमें वह समय आ पाता है कि मरणके समयमें परिणाम सुधर जाय। इस संन्यास मरण के लिये कोई क्षेत्र खोलना चाहिये जो तीर्थक्षेत्र हो, जहाँ पर मंदिर भी हों, संयमी जनोंका जहाँ पर निवास हो। संन्यास मरणके लिए सत्संगति अवश्य मिलनी चाहिये जिससे परिणामोंमें बराबर सावधानी बनी रहे। लोग मरने वालेके पास आते हैं और बातें ऐसी पूछते हैं कि जिनसे मोह उत्पन्न हो जाता है। तुम्हारी तबियत कैसी है ? तुम्हारा शरीर बड़ा कमजोर हो गया, यह क्या हाल हो गया ? तुम्हारे ये नाती खड़े हैं, ये लड़के खड़े हैं, यह दामाद खड़ा है आदि, ऐसी बातोंसे यदि उसके मोह उत्पन्न हो जाय तो उसका तो सारा बिगाड़ कर दिया। मरण कालमें ऐसे पुरुष निकटमें आने चाहियें जो ऐसी बात पूछें कि जिससे उसके आत्माकी सुध बढ़े और उसके आत्माका क्या कर्तव्य है ? इस ओर उसकी सच्ची दृष्टि जगे।

सल्लेखनाव्रतीका कर्तव्य और उसके हितू जनोंका कर्तव्य—जो पुरुष समाधिमरणमें अपनी प्रवृत्ति करता है वह पुरुष पहिले सर्व पुरुषोंमें क्षमा भाव रखता है। किसी पुरुषके प्रति क्रोधभाव रखते हुए सल्लेखना मरण नहीं किया जा सकता। जो अन्त समयमें सबसे क्षमा मांगता है वह निर्भार हो जायेगा, उसका संसार दूर होनेको है। संन्यास चाहने वाले पुरुषको सर्वप्रथम परिजन एवं मित्रजनोंसे ममता छोड़ देना चाहिए। मरणकाल ऐसा है कि उस समयमें जो धुन बन जाय वह तेज धुन बनती है। मरने वालेको अगर मोह उत्पन्न होता है तो तेज मोहकी धुन बन जायेगी और अगर ज्ञानकी धुन बनती है तो ज्ञान की तेज धुन बन जायेगी। मरणकी एक ऐसी विचित्र घटना है कि उस समय जो भाव बनेगा वह निष्कपट और तेज रूपसे बनेगा। तो परिजनोंका या जिनमें मोह उत्पन्न हो सके, ऐसे लोगोंका लगार उस समाधिमरण वालेके पास न रखना चाहिये जिससे कि परिणाम बिगड़ सकें। अन्त समयमें परिणाम न बिगड़ें, ऐसी कोशिश होनी चाहिये। बेचारा वह तो मर रहा है और उसके ये परिजन लोग मोह पैदा कर रहे हैं। वे १०—५ मिनट भी उसकी सच्ची सेवा नहीं कर सकते। सारे जीवन भर भी उसे कोल्हूके बैल की तरह पेला है और अन्त समयमें भी उसे शान्तिपूर्वक मरण नहीं करने देते। उसके मोह उत्पन्न करा कर उसका सारा बिगाड़ कर रहे हैं। तो जो व्रती लोग हैं, संयमीजन हैं, ज्ञानीजन हैं उनको उस व्यक्तिके पास रहना चाहिये जो उसे आत्मोन्मुख कर सकें। पहिले कोई अच्छे भोजनसे थाल सजाकर उसके सामने रख दिया, यदि वह खाना चाहे, तो झट उसे समझा दिया, अरे इस ढगका भोजन अनन्ते बार किया फिर भी शान्ति न मिली, अब तो इससे ममत्व तजो, अपने आत्मस्वरूपकी कुछ सुध लो, यों वे ज्ञानी पुरुष ऐसा वातावरण बनाते हैं जिससे उसका परिणाम सुधरे; परमात्मतत्त्वमें, प्रभुकी उपासनामें जिसकी दृष्टि रहे। जो पुरुष उस समाधिमरण करने वालेके निकट रहते हैं वे पुण्यवान् हैं जो उसके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं वे पुण्यवान् हैं। धन्य है इनका ज्ञान जो समाधिपूर्वक मरण कर रहे हैं। जितने लोग समाधिमरण करने वालेका दर्शन करते हैं समझो कि उनके बहुत बड़े पाप दूर हो जाते हैं, तो जो समाधिमरण कराते हैं वे बड़े बुद्धिमान् होते हैं, वे जिस चाहे ढंगसे हो सके, उसे समाधि परिणाममें स्थिर करते हैं।

सल्लेखनाव्रतीकी सेवा में धर्मानुरागियों का करतब—संन्यासमरणके प्रसगमें रहने वाले महापुरुष को उसकी सेवा शुश्रूषा करने वाले विद्वान् अनेक प्रकार के ध्यान दिला करके उसे समतामें स्थिर करते हैं। उस समय छोटे-छोटे पद जो आत्मस्पर्शमें सहायक हैं उनका बार-बार ध्यान कराते हैं। जैसे मेरा आत्मा एक ज्ञानानन्दस्वरूप है, अरहंत सिद्धके स्वरूपकी तरह विशुद्ध शक्तिवाला है आदि। उस अपने स्वरूपकी सुध लेनेके लिए णमो अरिहंताणं, णमोसिद्धाणं, ओम् नमः सिद्धेभ्यः आदिक अपने स्वरूपको स्पर्श करने में सहायक कुछ मंत्रोंका ध्यान करना चाहिए। उस समय शारीरिक वेदनायें अनेक उपस्थित होती हैं। उन वेदनाओंको सहन करनेके लिए आचार्यदेव समाधिमरण करने वाले महानुभावको शिक्षा देते हैं कि जो कठिन-कठिन उपसर्गोंमें भी अपने आत्माका ध्यान न छोड़े। जैसे एक ककण्डु नामक राजपुत्रने दीक्षा ली थी, सो राजा ने इस मुनिकी रक्षाके लिए जिस जंगलमें वे मुनि तपश्चरण किया

करते थे उसके चारों ओर बहुतसे सेनाके लोग रख दिये ताकि वे मुनि महाराज की रक्षा करते रहें, इनको कोई कष्ट न हो लेकिन जब उपसर्गों का अवसर आया तो वे बिछुड़ गए और एक बैरी आकर राजपुत्र पर उपसर्ग ढाने लगा। वह बैरी तो न था पर राजपुत्रके वियोगसे बहुत दुःखी होकर बैरी समझने लगा था। उसने इतना महान् क्रोध किया कि उस राजपुत्रके शरीरकी चमड़ी चाकूसे छीलने लगा और उस पर नमक भी छिड़कने लगा। हे मुनिराज ! उस कठिन वेदनासे बढ़कर और क्या वेदना होगी ? सुकुमाल मुनिराजने गीदड़ियोंके भक्षणका जो कष्ट सहा कि गोड़े पर्यन्त स्यालिनियोंने मांस खा लिया, पर वह मुनिराज बराबर आत्मसमाधिमें रत रहे। तो हे मुनिराज ! तुझे कौनसी वेदना है ? तेरेको तो कुछ भी कष्ट नहीं है, तू अपने को शान्ति और समता रूप रख। अपने आपका ऐसा निश्चय कर कि यह मैं आत्मा केवलज्ञानस्वरूप हूं। अपने ज्ञानस्वभावकी भावना करें तन्मात्र अपनेको माने, ऐसीदृष्टि बनाये रहते हुएमें यदि प्राण विसर्जन हो जायें तो तुझे कल्याणका मार्ग मिलेगा। किसी भी वेदनासे यदि तू दुःखी हो जायेगा, कष्ट अनुभव करेगा तो तू नारकादिक गतियोंमें जन्म लेगा। मरणका समय बड़ी जिम्मेदारीका है। अगला भव कैसे बीते ? उसका फैसला मरणसमयके परिणामों पर निर्भर है। हे मुनिराज ! आप विचार कीजिए कि यहाँ तो कोई दुःख का अवसर नहीं है। काहे का दुःख है ? यदि स्वरूप की संभाल की जाय तो क्षुधा तक की वेदना रूप नहीं रहती। जरासा दिल कमजोर किया, राग और मोह की ओर उपयोग निकला कि दुःख बढ़ गया।

जनसाधारण के दुःखरूप विचार—इस समय हम आप लोग जितने समागमोंमें रहते हैं एक भी दुःखी नहीं है, पर अपने दिलको न संभालनेसे सभी दुःखी हो रहे हैं। साधारण रूपसे खानेकी व्यवस्था तो सभी के पास है, सभी लोग समर्थ हैं, कष्ट कोई है नहीं, पर मोह जो बना रखा है उसके कारण सभीको परेशानी हो रही है, अन्यथा परेशानीका कोई मौका नहीं है। कितनी कलुषित बुद्धि है, कितना खोटा विचार है कि मैं लोगोंमें कुछ अच्छा कहलाऊं। ये लोग जो स्वयं दुःखी हैं, स्वयं कर्मोंके प्रेरे हैं, मुझसे भी अत्यन्त कलुषित हैं ऐसे लोगोंमें अपने को कुछ अच्छा कहलवाना। यह कितनी बड़ी अज्ञानता भरी बात है। बस इसी बुद्धिसे दुःखी हैं। इसी बुद्धिके कारण लोग धनी बनना चाहते हैं। धनी बननेमें लाभ कुछ नहीं है मगर मानता कौन है ? सभी धनी बननेके होड़में लगे हैं। कारण क्या है कि भीतरमें यह परिणाम पड़ा हुआ है कि मैं लोगोंमें कुछ अच्छा कहलाऊं, इस आशयने परेशान कर दिया।

संस्थानविचय धर्मध्यानका परिणाम—धर्मध्यानोंमें एक संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है और उसकी पात्रता मुनिराजको बतायी है। यद्यपि सम्यग्दर्शन होने पर चारों ध्यान समाप्त हैं, लेकिन विशेषताकी दृष्टिसे संस्थानविचय धर्मध्यान मुनिराज ध्या सकते हैं, श्रावक विशेषताके साथ नहीं ध्या सकते हैं। संस्थानविचय धर्मध्यानमें तीन लोक और तीन कालकी बातें उपयोग में रहती हैं। यही संस्थानविचय धर्मध्यान है। जिसके उपयोगमें ३४३ घनराजूप्रमाण इतना विशाल लोक नक्शेमें रहता हो उतनी बड़ी दुनिया है। तो इस परिज्ञानके साथ अनेक प्रकारसे वैराग्य उसका बना रहता है। जिस द्वीपमें हम रहते हैं उसका नाम है जम्बूद्वीप। यह जम्बूद्वीप एक लाख योजनाका सूचीरूप है। एक ओरसे सामने तक एक लाख योजन है। दो हजार कोशका एक योजन होता है। उससे दूना एक ओर लवण समुद्र है, उससे दूना एक ओर दूसरा द्वीप है, उससे दूना समुद्र—ऐसे-ऐसे दूने दूने चलते जाते हैं और असंख्याते द्वीप समुद्र हैं। असंख्यातका प्रमाण होता है बड़े से। उससे भी आगे यह द्वीप समुद्र है, फिर भी वह एक राजू नहीं कहलाता है। फिर यह एक राजू है प्रतररूपमें, उतना ही लम्बा चौड़ा मोटा जो क्षेत्र है उसेघनराजू बोलते हैं—ऐसे-ऐसे ३४३ घनराजूप्रमाण लोक हैं। इतना बड़ा लोक जहाँ जंच रहा हो, नक्शा बन रहा हो उसके सामने यह थोड़ासा परिचित क्षेत्र न कुछ जैसा मालूम पड़ता है। इस थोड़ेसे परिचित क्षेत्रके लोगोंमें अपनेको कुछ अच्छा कहलवाना, यह कितनी मूढ़तामरी बात है ? इतने विस्तार वाले लोकमें कितने जीव हैं ? इसका विचार संस्थानविचय धर्मध्यानी पुरुष को होता है। अनन्तानन्त जीव हैं, इन सब जीवोंके सामने ये परिचयमें आये हुए कुछ जीव कुछ भी तो गिनती नहीं

रखते हैं। अनन्तानन्त अक्षयानन्त जीवोंको छोड़कर कुछ जीवोंमें एक अपने महत्व की आकांक्षा बनायी तो यह कितना बड़ा अज्ञान है, व्यामोह है? संस्थानविचय धर्मध्यानी जीव चूंकि मोक्षका प्रयत्न कर रहा है सो उसके रागभाव नहीं होता। जिस काल का परिज्ञान है कितना समय व्यतीत हो गया, अबसे पहिले अनन्तकाल व्यतीत हो गया और भविष्यमें अनन्तकाल व्यतीत होते रहेंगे। इतने लम्बे कालके बीच में ४०-५०-१०० वर्ष कुछ भी तो गिनती नहीं रखते। तो जरासे समयमें एक बड़प्पनकी चाह रखना यह कितना बड़ा व्यामोह है? दुःख है तो केवल इस लोकमें अपना महत्त्व रखनेकी इच्छासे है अन्यथा दुःखका और कोई कारण नहीं है। समाधिमरण जिसने ग्रहण किया है ऐसे जीवको आचार्यदेव समझा रहे हैं कि हे आत्मन् देख, इतने बड़े लोकमें तू प्रत्येक प्रदेश पर अनेक बार जन्मा है, मरा है, ऐसे ऐसे अनन्त जन्ममरण किए हैं। अब एक जन्ममें तू भोगोंकी इच्छा छोड़ दे, लोगोंसे स्नेह छोड़ दे, परिचय छोड़ दे तो तेरा कल्याण होगा। सभी जीव एक समान हैं, तुझसे अत्यन्त जुदे हैं। जब तुझसे अत्यन्त पृथक हैं प्रत्येक जीव तो किसी जीवमें गहरा परिचय बनाना, उसमें उपयोग रमाना, यह तो केवल बरबादी का कारण है।

वेदनाभय दूर करनेका उपदेश—हे आत्मन्! समाधिमरणके अवसर पर तुझे कुछ रोग वेदनायें विचलित कर सकती हैं, मगर तू देख तो सही कि जब ५ पाण्डव मुनिराज मुनिराज तपश्चरण कर रहे थे तो उस समय उन पाण्डवोंके बैरी कौरव पक्षके कुछ लोगोंने जो शेष बचे थे उन पांचों पाण्डवोंको देखकर उन पर इतना क्रोध किया कि लोहेके कड़ा हार आदिक गहने बनवा कर उन्हें खूब अग्निमें लाल लाल तप्तायमान कर उन पांचों पाण्डवोंको पहिना दिये। उस समयमें भी वे पाण्डव विचलित नहीं हुए। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ये तीन तो उसी काल मोक्ष चले गए और नकुल, सहदेव भी वेदनासे विचलित नहीं हुए, पर समीप खड़े हुए भाइयोंके उपसर्गको देखकर कुछ धर्मबुद्धिवश की ये ऐसे निरपराध, ऐसे महान् उदारचित्त वाले सन्त पुरुषों पर कैसी वेदना ढाई जा रही है? जो इतने बलवान थे कि बड़े बड़े राजा महाराजावोंको क्षणभरमें जीत लेते थे, उन पर आज क्या हालत गुजर रही है? ऐसी धर्मबुद्धिसे उनके रति उत्पन्न हुई, जिस रागभावके कारण उनका मोक्ष रुक गया। वे भी जायेंगे एक भव पाकर मोक्ष, समता देखिए इन पांचों पांडवोंकी। कैसी निर्दोष समता उनमें थी? ऐसे बड़े बड़े उपसर्गोंमें भी ये विचलित न हुए तो तुझे कौनसा कष्ट है? तू कष्टसे विचलित न हो। जब बड़े बड़े धर्मात्मा पुरुषोंकी कथायें सुनते हैं कि उन पर कैसे कैसे उपसर्ग आये तो अपने कष्ट हल्के मालूम होने लगते हैं और हैं भी हल्के। मनुष्य अपना दिल कमजोर बनाये रहे तो जरा जरासी बातको वेदनारूप महसूस करता है और जब कभी पाप का उदय आ जाए और कठिन उपद्रव आ जाए तो उस उपद्रवको सह लेगा। अपने मनसे कष्ट न मानना चाहिए। और कभी तीव्र कर्मोंका उदय आ जाए तो जो कष्ट आ गया उसे सहन करेंगे, चाहे जिस तरह सहन करें। इसलिए यह अभ्यास बनाना चाहिए कि हम अपने मनको कुछ कुछ कष्ट सहन करने का अभ्यासी बनावें। यही तो तपश्चरण है, यही कर्मोंकी निर्जराका कारण बनेगा।

कष्टसहिष्णु बननेके लिये विचार—कभी कर्मोदय ऐसा तीव्र आ जाय कि एक दो दिन खानेको न मिले तो उसको भी सहना तो पड़ेगा, सहेगा नहीं तो करेगा क्या? पर संक्लेश सहित जो सहन करेगा उसे आत्मलाभ न मिलेगा। कष्टसहिष्णु बनना चाहिये। इस जीवनको मौजी जीवन न बनायें। अपना अधिकतर समय धर्मध्यानमें, स्वाध्यायमें, तत्त्वचर्चा सुनने सुनानेमें व्यतीत करें। इनमें अगर कुछ चित्त को क्लेश होता है तो उस क्लेशको सह लीजिए, पर मनमौजी न बनिये। नहीं मन लगता है शास्त्र-स्वाध्याय वगैरह सुननेमें तो झट ऊब गये, वहाँ न गये, स्वाध्यायमें शामिल न हुए, कुछ थोड़ासा बैठे तो झट उठकर चल दिए। तो यह कोई अच्छी बात नहीं है। कभी कभी कर्मोंका ऐसा तीव्र उदय आता है कि बड़ी बड़ी वेदनायें सहनी पड़ती हैं, जिनको धर्मका प्रसंग भी प्राप्त है। दो शब्द जिनवचनके सुननेमें आ गये तो उससे लाभ भी होगा, मगर ऐसे कार्योंमें जरा भी कष्ट सहनेकी मनमें भावना न रखें तो वह जीवन क्या जीवन है? मनमौजी जीवन बनाना अच्छा नहीं। जरा भी कष्ट नहीं सह सकते, रातभर

की भी भूख नहीं सह सकते । चाहे जिस पदार्थको बाजारसे लेकर खाना, भक्ष्य अभक्ष्यका, मर्यादित अमर्यादितका कुछ भी ध्यान न रखना, यह कोई भली बात नहीं है । अपना जीवन मौज ही मौजमें बितायें, धर्मका कुछ भी ख्याल न रक्खें तो ऐसा जीवन क्या जीवन है ? क्या है ? थोड़ासा जीवन है, सब कुछ छोड़कर जाना होगा । इस जीवनका तो कुछ विश्वास भी नहीं है । कहो अभी ही मृत्यु हो जाये । ऐसे अविश्वसनीय जीवनमें भोगोंसे प्रीति न करें । हे समाधिमरणके इच्छुक पुरुष ! देख अपने जीवन को संभाल । कैसा भी कष्ट आया हो वह कुछ भी कष्ट नहीं है । तू अपने आत्माका विश्वास कर । शरीर को शिथिल करके, शरीरको यों ही छोड़कर इस शरीरका उपयोग ग्रहण न करके केवल अपने उस चैतन्य स्वरूप का मानकर । तू केवल चैतन्यप्रकाशमात्र है । इसमें राग कहाँ ? तेरा उपयोग इस चैतन्यस्वरूपमें रहेगा तो तुझे वेदना न रहेगी । कष्ट तुझे होते हैं तो उन कष्टोंकी यह ज्ञानामृत दवा है, इस ज्ञानामृत का पान कर तो कुछ भी कष्ट न रहेगा । तू तो अपने निर्लेप विशुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्माका अनुभव कर तो शत प्रतिशत यह यथार्थ बात है कि दूसरोंसे कष्ट नहीं रह सकता ।

आत्मीय अविनाशी स्वरूपका विचार—हे आत्मन् ! विचार कर यह मैं चैतन्यप्रकाश जो एक साधारण सामान्य स्वरूप है, इसका कहीं विनाश नहीं है । उसकी मृत्यु है ही नहीं । फटे पुराने टूटे घरको छोड़कर नवीन घर में कोई प्रवेश करता है तो बड़े गाजे बाजेके साथ बड़े समारोहके साथ, हर्षके साथ नवीन घरमें प्रवेश करता है । कोई उस समय रोकर जाता है क्या ? इसी प्रकारसे यह देह पुराना हो गया, वृद्ध हो गया—ऐसे इस जीर्ण शीर्ण शरीरको छोड़कर यदि कहीं भी नवीन शरीरमें जा रहा है तो तेरा वहाँ बिगाड़ क्या ? तेरी मृत्यु ही नहीं है । एक जीर्ण शीर्ण कुटी छोड़कर जो जा रहा है तो ठीक है, जान लिया । कष्ट क्या है ? कष्ट तो सब मनका है । मरते समय जो यह ख्याल करता है कि हाय यह इतना बड़ा मकान, इतना बड़ा वैभव यह सब छूटा जा रहा है ऐसा मनमें ख्याल करके वह दुःखी होता है । मनकी वेदना सबसे बुरी वेदना है । हे आत्मन् ! अपने चित्तको संभाल, अपनी स्वरूपकी ओर दृष्टि ला, फिर तेरा कल्याण ही कल्याण है । कहाँ है तेरी मृत्यु ? कहाँ है तुझे वेदना ? तू चैतन्यमात्र है, चैतन्यस्वरूपको वेदता है । यही तेरी शुद्ध वेदना है । इसके अलावा और तेरेमें क्या वेदना है ? यह ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि मेरी मृत्यु नहीं, मैं जवान, बालक, बूढ़ा भी नहीं, स्त्री पुरुष भी नहीं, मैं तो एक चित्स्वरूप हूँ । इसमें कोई लिंग नहीं, इसका कोई नाम नहीं । यदि कुछ नाम रखा तो वहीं लिङ्ग शुरू हो जाता है । यह मैं नामरहित हूं, तब मुझमें लिङ्ग कैसे हो सकता है ? इसमें कोई भय भी नहीं है । भय किस बातका ? सबसे बड़ा भय जीव को लगा है मरणका । सभी लोग और और हानियां तो सह सकते हैं, पर मरणकाल आ गया ऐसा जानकर वे घबड़ा जाते हैं । अरे, मरण तक भी मेरा नहीं है तो फिर मरणका भय क्या ? जब मरणका भय नहीं है तो अन्य भयोंकी कथा ही क्या है ? मैं मरणरहित हूं तो फिर मरणका भय किस बातका ? मैं देहरूप नहीं, मनरूप नहीं, फिर मनकी वेदना कैसी ? ऐसा निरपेक्ष होना पड़ता है तभी समाधिमरणके अवसर पर उस समय साधकका साधु मुनि जैसा परिणाम होता है । बहुत निर्मल परिणाम होता है समाधिमरण ग्रहण करने वाले का ।

समाधिमरणकी पवित्रता—समाधिमरण करने वाला चाहे गृहस्थ ही क्यों न हो, पर उसके भीतरका आशय देखिये । वह तो उस समय पूज्य है, उस समय वह निर्मोह है, निर्लेप है, एकाकीपनके चिन्तनमें लीन है । ज्ञानी जन उस समाधिमरण करने वालेको बार बार इस प्रकार समझाते हैं कि हे महाभाग्य ! कदाचित तेरे शरीरमें कुछ वेदना भी हो तो थोड़ेसे शरीर दुःखसे कायर मत बन । प्रतिज्ञासे च्युत मत हो अपने परम निर्जरास्वरूप शुद्ध स्वरूप की, भावना बना । देखिये एक ही दवा है वेदनामुक्त होनेकी कि उस वेदनासे उपयोग हटाइये और अपने आपकी ज्ञान मात्र अनुभवमें लीजिये । यही वेदनाको दूर करनेका सही उपाय है । ऐसा यह समाधिमरण करने वाला पुरुष अन्तरङ्ग से समस्त बहिरंगका त्याग करता है और अपने परमात्मतत्त्वके दर्शनमें स्थिर रहता है । और इस ही आत्मस्थिरताके प्रतापसे आनन्दानुभूतिका स्वाद लेता है । यों समझिये कि समाधिमरण करने वाला ज्ञानी पुरुष आनन्दामृतका पान

करता हुआ इस देहको छोड़कर जाता है और मोही पुरुष बड़ी वेदना, बड़े क्लेश भोगकर जाता है। हाय! यह सब मिटा जा रहा है, ये सब धन वैभव आदिक छूटे जा रहे हैं, यों सोच सोचकर मोही पुरुष दुःखी होते हैं। समाधिमरण की विधिमें बताया जा रहा है कि इस प्रकार समता परिणाम रखें, कषायोंको मंदकर रत्नत्रयकी भावना बनायें, पंचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करें। निजस्वभावका स्मरण करते हुए प्राणविसर्जन हों तो यही है एक पवित्र समाधिमरण।

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यनस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्धयर्थम् ॥१७९॥

अंहि सल्लेखनामें अहिंसाकी प्रकृष्ट सिद्धि—इस समाधिमरणमें हिंसाके कारणभूत कषायें क्षीण हो जाती हैं, इसलिये यह समाधिमरण अहिंसाव्रत कहलाता है। जो भी व्रत हैं वे अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये लिये जाते हैं। अहिंसा कहते हैं रागद्वेष मोहभाव दूर हों और अपनी सुध बने, अपनी सावधानी रहे उसको। तो सल्लेखनामें तो विशेषकर अहिंसा बराबर बनी रहती है। यह आत्मा अहिंसास्वरूप है, अहिंसाकी मूर्ति है अर्थात् विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है यह। इसमें रागादिक भाव नहीं हैं। अपने स्वभावकी संभालमें तो रागादिक भाव ठहर नहीं सकते। अपने स्वभाव की सुध रखे, रागादिक भाव दूर हों तो उसमें जैसा अहिंसाका स्वरूप था, स्वभाव था, वही प्रकट हो जाता है और यही कल्याणकी बात है, यही चाहिये। हे आत्मार्थी! देख तू अपनेसे बाहर कहीं भी किसीको निरखकर कौनसे महत्त्वकी सिद्धि कर लेगा? कौन तेरा सहायक है? तू अपने घरसे मत निकल। जैसे सावनके महीनेमें बड़ी तेज वर्षा हो रही हो, बादल भी कड़क रहे हों, बिजलियां भी चमक रही हों, ओले भी पड़ रहे हों तो ऐसे समयमें भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो अपनी झौंपड़ीमें न रहना चाहता हो, झौंपड़ीसे निकलकर बाहर जानेकी सोच रहा हो? वह तो अपनी झौंपड़ीसे बाहर न निकलना चाहेगा। ऐसे ही बाहरमें जहाँ रागद्वेषमोहकी बिजली चमक रही हो, विषय कषायोंके ओले पड़ रहे हों, अनेक प्रकारकी आपत्तियोंकी वर्षा हो रही हो, ऐसी स्थितिमें विवेकी पुरुष तो अपनेसे बाहरमें अपना उपयोग न रखनेकी सोचेगा। हे आत्मन्! इस प्रकारकीभयानक स्थितिमें आज तुझे जैनशासनके प्रभाव से एक विशुद्ध निज घर ध्यानके लिये मिल गया है, अपने उपयोगको रमानेके लिए मिल गया है तो अब तू यह कोशिश कर कि अपने ही घरमें ठहर। अपने घरसे बाहर तू झांक ही मत। ऐसा ही अपने आपका भाव समाधिमरण में रहने वाला पुरुष भर रहा है और इस चिन्तनके प्रसादसे समतापूर्वक ठहर जाता है जिससे भवरहित बन जाता है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

व्रतरक्षार्थ सकल शीलको पालने वालेके मुक्तिकी भाजनता—श्रावकोंके आचारमें ५ व्रतोंकी मुख्यता है—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत। शेष जो और कुछ बताए गए हैं ७ शील (३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत) ये ५ अणुव्रतकी शिक्षाके लिए बढ़ाए गए हैं। इन ५ अणुव्रतोंमें मुख्य तो एक ही है, जो शेष ४ हैं वे अहिंसाकी सिद्धि के लिए हैं। इसलिए आधार तो एक ही है अहिंसा। उस अहिंसाकी रक्षाके लिए इन ७ शीलोंका वर्णन किया गया और सल्लेखनाका। सल्लेखना भी अहिंसाकी रक्षाके लिए है। जो पुरुष अहिंसाकी रक्षाके लिये इन ७ शीलोंका और सल्लेखनाव्रत का पालन करता है उस पुरुषको मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रसन्न होकर स्वयंवरकी कन्याकी तरह स्वयं वरवरण करती है अर्थात् जैसे स्वयंवर मण्डपमें राजपुत्र चारों ओर बैठे हुए हैं और वह कन्या स्वयं प्रसन्न होकर स्वयंवरमण्डपमें चारों ओर घूमकर स्वयं वरवरण करती है इसी प्रकार वह मुक्ति स्वयं ढूंढ लेती है। उसको जो स्वयं अहिंसक है, जो अपने स्वभावकी उपासना करने वाला है अर्थात् उसका

मोक्ष अवश्यंभावी है। तो आचारसे बारह व्रत और सल्लेखना इन तेरहका पालन बताया है। जीवनभर इन बारह व्रतोंके निर्दोष पालने में रहे और अन्तमें सल्लेखना में मरण करे तो वह मोक्षका परम अधिकारी है।

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१॥

द्वादश व्रत, सम्यक्त्व व सल्लेखनाके पञ्च पञ्च अतिचारोंकी हेयता—५ व्रत, ७ शील और सल्लेखना मरण और सम्यक्त्व इन सबमें ५—५ अतिचार हुआ करते हैं। सम्यक्त्व, बारह व्रत और सल्लेखना इन १४ में ५—५अतिचार होते हैं। सब ७० अतिचार हैं वे यथार्थ आत्मविशुद्धिको रोकने वाले हैं उनका त्याग करना चाहिए। अतिचार नाम है दोषोंका। जहां नियमका मूल भंग तो नहीं है, कुछ दोष लग रहे हैं उसे अतिचार कहते हैं। अतिचारके सम्बन्धमें बताया है कि मानो १०० डिग्री आचार बिगड़ जाय तो दोष हो जाता है। अगर मूल व्रतका पालनका अभिप्राय बना हुआ हो, मूल व्रतका पालनका संस्कार और यत्न होता हो तो सब तो नहीं, फिर भी बहुत अधिक दोष होने पर भी वह अतिचार है लेकिन अतिचार मात्र अतिचार है ऐसा जानकर अतिचारको करता रहे तो वह अनाचार ही है, अतिचार नहीं रहता, ये अतिचार चौदहोंके ५—५ हैं उनमें से पहिले सम्यग्दर्शनके अतिचार कहते हैं।

शङ्का तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

सम्यक्त्वके शंका कांक्षा विचिकित्सा नामक अतिचार—शंका करना, आकांक्षा ग्लानि करना, रखना, अन्य दृष्टियोंकी स्तुति करना और मन से प्रशंसा करना—ये सब सम्यग्दर्शनके अतिचार हैंअर्थात् सम्यक्त्वमें ये दोष न लगना चाहिए। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें से अतिचार कुछ अंशोंमें सम्भव हैं, उपशम सम्यक्त्वमें अतिचार नहीं होते, क्षायिक सम्यक्त्वमें अतिचार नहीं होते। अतिचार एक दोष है। पहला अतिचार है शंका करना, सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रणीत अनेकान्तकी, जैन शासनकी किसी बातमें संदेह करे तो वह सम्यक्त्वका दोष है, और जो सप्तभय बताए गए हैं उन भयोंमें भी कुछ वैसी वृत्ति बन जाय तो वह भी सम्यक्त्वका अतिचार है अर्थात् जिनके अंशोंमें संदेहसे सम्यक्त्व तो न बिगड़े, पर सम्यक्त्व में दोष लगे और ऐसा दोष मानता रहे तो सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाय ऐसा यह अतिचार होता है। जैसे नरक स्वर्गोंकी रचना बतायी गई है, ७ नरक हैं, इस प्रकार उन नरकोंमें परिस्थितियां होती हैं। स्वर्ग हैं ऐसे इन्द्रका विमान हैं, ऐसे श्रेणीबद्ध विमान हैं, उनके ऐसा उत्तम शरीर है आदिक जो ये कथन हैं उन कथनोंमें सन्देह करे तो वह अतिचार है और वह ही एक पूरा संदेह करे तो वहाँ तो सम्यक्त्व ही नहीं है अगर कुछ अटपटासा लगे तो यह दोष हुआ, लेकिन जिन सर्वदेवने तत्त्वसम्बन्धी उपदेश किया है और जिनके तत्त्वोपदेशमें रंच भी फर्क नहीं मालूम पड़ा, जिन तत्त्वोंमें हमारा अनुभव चल सकता है, जिनमें कहीं कोई अन्तर नहीं आया तो वह भगवानके द्वारा कहा गया तत्त्व जो परोक्ष है जहाँ युक्ति और अनुभव नहीं चल रहे हैं वे भी यथार्थ हैं ऐसा सम्यग्ज्ञानीका निर्णय रहता है। दूसरा अतिचार है वाञ्छा करना। भोगोपभोगके साधनोंकी जो इच्छा बनी रहती है वह सम्यक्त्वका एक दोष है क्योंकि यह इच्छा कभी प्रबल हो जाय और आत्माकी सुधि खो बैठे तो सम्यक्त्व नष्ट हो सकता है। तीसरा दोष बताया ग्लानि। धर्मात्मावोंको निरखकर, चारित्रधारियोंके मलिन गन्दे शरीरको देखकर ग्लानि करना यह भी सम्यक्त्वका अतिचार है। अपने आप पर जो भूख प्यास आदिककी परिस्थितियां गुजरती हैं उस सम्बन्धमें भी ग्लानि परिणाम रखे तो वह सम्यक्त्वका अतिचार है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषों को तो सभी परिस्थितियोंमें घबड़ाना न चाहिए। उपसर्ग आये, वेदना हो, आजीविकाका काम हो, किसी का वियोग हो, विरोधीका सामना करना पड़े तो ऐसी स्थितियोंमें अपने चित्तमें ग्लानि न करे। उनकी दृष्टि

रहे यह भी अच्छी स्थिति है। अपने स्वरूपकी सुध न खोये और जो थोड़ी घबड़ाहट होती है तो वे सब सम्यक्त्वके दोष हैं और वे दोष बनकर सम्यक्त्वको नष्ट कर सकते हैं। ये सम्यक्त्व के अतिचार हैं।

सम्यक्त्वके अन्यदृष्टिस्तव व अन्यदृष्टिप्रशंसा नामक अतिचार—चौथा अतिचार बताया है मिथ्यादृष्टियों की संस्तुति करना। कोई पुरुष बड़ा चमत्कारी है, शुभ परिणाम भी रखता है, नियम भी अच्छे पालता है पर सम्यक्त्व नहीं हुआ है और उसकी प्रशंसा कर रहा है कोई, प्रशंसा करते हुएमें यदि कहे कि इस पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है तो यह उसके सम्यक्त्वका अतिचार है। और ऐसे पुरुषके प्रति मनमें वह भला माने, उसकी प्रशंसा करे यह भी सम्यक्त्वका अतिचार है। यों ये ५ सम्यक्त्वके अतिचार हैं। अतिचार से सम्बन्धित ये चार बातें होती हैं—अतिक्रम, व्याप्ति, क्रम, अतिचार और अनाचार। अतिक्रमलको कहते हैं व्रतके खिलाफ होनेका मनमें कुछ विचार उठने को और व्याप्तिक्रम कहते हैं विषयोंकी अभिलाषा रूप चित्तमें मलिनता आने को। अतिचार कहते हैं व्रतके नियमोंमें शिथिलता आने को। विरुद्ध कुछ वृत्ति बन गई तो वह अतिचार है और अनाचार कहते हैं स्वच्छन्द होकर व्रतोंके विरुद्ध प्रवृत्तिमें लग जानेको। इसे आगम शब्दोंमें कहें तो बाढ़का (व्रतोंका) भंग करना अतिचार है, अतिक्रम, बाढ़के भंगोंका मनमें विचार होना अतिक्रम है और बाढ़ भंग होना व्याप्तिक्रम है और सम्यक्त्वकी बात ही भूलकर उसके विरुद्ध प्रवृत्ति हो जाना सो अनाचार है। तो ये जो सम्यक्त्वक अतिचार बताये गए हैं उनमें ऐसा साधारण दोष लेना जो कि सम्यक्त्वमें मलिनताको उत्पन्न करे, यह अतिचार क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें होता है और उनका निमित्त कारण है सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय। सम्यक्त्वमें बाधा देने वाली ७ प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व, सम्यकमिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति, अनन्तानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ। जब इन ७ प्रकारकी प्रकृतियोंका क्षय होता है और आगामी कालमें ये सब प्रकृतियां उदयमें आ सकती हैं, सत्तामें अभी मौजूद हों, इनकी उदीर्णा न हो सके तथा सम्यक् प्रकृतिका उदय हो, ऐसी स्थितिमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होता है। इस उदयके कारण ये अतिचार लगने लगते हैं। सम्यक्त्वके ८ अंग कहे हैं और उन ८ अंगोंके परीक्षक ८ दोष होते हैं। वे ८ दोष ही अतिचार हैं। पर यहाँ बताया गया है कि उन आठोंका किसी न किसीमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए संक्षेप करके ५ बताये गए हैं। सम्यग्दर्शनके बाद अहिंसाणुव्रतका वर्णन किया गया है तो उसके अतिचारों को बताते हैं।

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अहिंसाणुव्रतके अतिचार—अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार हैं। किसी पशु आदिक के हस्त पैर नाक कान आदिका छेदन करना यह अहिंसाव्रतका एक अतिचार है। बहुतसे लोग गाय, भैंस, कुत्ता तथा अपने ही बच्चोंके कान, नाक वगैरह छेद डालते हैं तो यह अहिंसाणुव्रतका दोष है। ताड़न—लकड़ी कोड़ा आदिसे मारना यह भी अहिंसाणुव्रतका अतिचार है। बाँधना—उनको ऐसा दृढ़ बाँधते हैं कि वे पशु फिर छूट नहीं सकते। कहीं कहीं सङ्कलोंसे घोड़ों को बाँध देते हैं और आग लग जाय तो वे भस्म हो जाते हैं। ऐसी अनेकों घटनायें सुननेको मिलती भी हैं। उन्हें दृढ़ बन्धनसे तो बाँधना हो न चाहिए और जहां तक हो उन्हें एक बाड़ेमें प्रवेश कर देना चाहिये, जो पशुशाला हो, जहाँ से वे पशु भाग न सकें और उन्हें बांधा न जाए और बांधा जाए तो एक साधारण रस्सीसे बांध दिया जाए ताकि विपत्ति आने पर वह रस्सी जल जाए, टूट जाए, भला उसके प्राण तो बच सकें। तो दृढ़ बन्धनसे बांधना अतिचार है। पशु आदिक पर अधिक बोझा लादना अतिचार है। सामर्थ्य तो है ४ मनकी और ६ मन लाद दें तो यह अतिचार है। ये गृहस्थोंके अतिचार बताये जा रहे हैं। मुनियोंके तो ये सम्भव ही नहीं हैं। कैसा व्यवहार उनका बने तो अहिंसामें दोष आता है उसका कथन चल रहा है और पशु आदिकका समय पर भोजन पान रोक देना अतिचार है। अथवा जैसे कोई पशु दूध अधिक देते हैं तो उनकी चौगुनी सेवा होती है उनकी अपेक्षा जो कम दूध देने वाले हैं अथवा उनकी सेवा तो क्या भर पेट भोजन भी नहीं देते, इसमें अतिचारका दोष है।

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती ।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

सत्याणुव्रतके अतिचार—सत्याणुव्रतके अतिचार बतला रहे हैं, मिथ्या उपदेश देना, किसी शुद्ध अर्थका झूठा अभिप्राय लगाना और जिससे सुनने वाला खुश हो जाये, ऐसा मिथ्या उपदेश कर देना, जिससे हितका अधिक सम्बन्ध नहीं है यह सत्याणुव्रतका अतिचार है। किसी की एकान्तमें कोई चीज है या गुप्त रखने योग्य बात है उसे देख ले और प्रकट कर दे तो वह सत्याणुव्रतका अतिचार है। झूठे लेख लिखना, सत्याणुव्रतका अतिचार है। वैसे है वह पूरा सत्य, पर वचनोंका प्रयोग नहीं है और कुछ सीमामें रहकर डरते हुये कुछ कूट लेख करले तो वह अतिचार है, इन अतिचारोंके बारेमें जैसे पहिले बताया कि ९९ डिग्री तक दोष लगनेमें ये अतिचार बदले जा सकते हैं। यदि उस लक्ष्यको छोड़ दें तो दो चार डिग्री तकका दोष हो उससे भी अतिचार है। इस तरह अतिचारोंकी बात सुनकर कभी मनमें आ सकता है कि इतनी बड़ी बात बतायी गई है। जो व्रतभंगकी चीज है उसे अतिचार बताये तो इन अतिचारों की बात सुनते हुएमें आशयको जरूर ध्यानमें रखना चाहिए कि जैसा ज्ञानीके व्रत पालनेका तो भाव है, उसका ही यत्न है, मगर कुछ कठिन स्थितियां ऐसी मजबूर कर रही हैं या कर्मोदय ऐसा मजबूर कर रहा है कि जिन परिस्थितियोंमें व्रतका सम्बन्ध रखते हुए भी कुछ हटना पड़ रहा है, कुछ दोष लग रहे हैं—ऐसी परिस्थिति मनमें सोचकर अतिचारोंकी बात सुनें तो वह ठीक बैठती है और उसके मूल आशयमें व्रतरक्षा आदिककी बात न रखे, मात्र अतिचारकी बात सुनें तो उसे व्रतभंग या अनाचार जैसा लगेगा। सत्याणुव्रतका चौथा अनुचार बताया है धरोहरका अपहरण करना। इसके लिये दृष्टान्त बतलाते हैं कि कोई पुरुष किसीके यहां जैसे ११००) रख गया, बोल गया कि हम परदेश जा रहे हैं, जब वापिस आयेंगे तो हमारे रुपये हमें दे देना। वह गया परदेश। परदेशसे वापिस आने पर वह कहता है कि जो हम हजार रुपया रख गये थे वह हमें दीजिये तो वह कहता है कि हां जो आप कहते हैं सो ले जाइये। तो कुछ इसमें लगता ऐसा है कि मायाचार भी है, चोरी भी है, असत्य भी है, सभी ऐब उसमें भरे हुए हैं। कोई भीतरमें चाह बनी हुई है व्रतभंगकी और व्रतपालनेकी। सत्याणुव्रत पालनेकी उसके मनमें लगार है और इन वचनोंमें कह रहा कि जो आप कह रहे हैं वह आप ले जाइये। यह अतिचार त्यागने योग्य है। इसे इस दृष्टिसे सुनना चाहिये कि इसे दूर ही करना चाहिए। उस धरोहर वालेके हजार रुपये दे दिए, पर इसमें चोरीका दोष लगा, थोड़ा सा भाव लगार लगा है तो थोड़ेके लिए स्वच्छन्द होकर असत्यको नहीं छोड़ना चाहता है, उसको अतिचार बताया गया है। किसीकी मुद्रा निरखकर उसके मनकी बात समझ लेना व उसके आशयको दूसरोंके समक्ष प्रकट कर देना यह सत्याणुव्रतका ५ वां अतिचार है। इस तरह ये सत्याणुव्रतके अतिचार कहे गए हैं।

अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिए अतिचारोंकी हेयता—उक्त अतिचारोंके कहनेका प्रयोजन है कि इन दोषोंको न करें और आत्माका जो एक अहिंसास्वरूप है, सत्यज्ञानमात्र जो स्वरूप है, ज्ञाताद्रष्टा रहना यह जो अहिंसकवृत्ति है इसकी ओर ध्यान देवें और इसका रक्षण करें। धर्म तो एक ही है और वह है ज्ञाताद्रष्टा रहना। अब ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें कमी होती है और उस कमीके समय ज्ञाताद्रष्टा रहनेके लिये जो यत्न किया जाता है, प्रवृत्ति की जाती है, वह प्रवृत्ति अनुकूल है और उसे नाना प्रवृत्तियोंसे व्यवहारमें धर्म कहा है। तो व्यवहारधर्म तो अनेक प्रकार के होते हैं, पर निश्चयमें धर्म एक ही है। रागद्वेषरहित रहना, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, यही धर्मका पालन है। पर व्यवहारधर्म अनेक क्यों हो गये कि ज्ञाताद्रष्टा रहनेके प्रयत्नमें जो इसकी प्रवृत्ति चली, वे नाना प्रकारकी होती हैं? जैसे दूसरोंका दिल न दुःखाना सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यव्रतसे रहना, परिग्रहका परित्याग अथवा प्रमाण करना—ये नाना प्रकारकी प्रवृत्तियाँ चलती हैं, इस कारणसे नाना व्यवहारधर्म हो जाते हैं, पर व्यवहारधर्मका काम कवच जैसा है और निश्चयधर्मका काम शस्त्र जैसा है। जैसे युद्धमें कोई वीर लड़ रहा है तो वह तलवार और कवच रखता है। तलवारसे तो युद्ध करता है और कवचसे दूसरोंके आने वाले शस्त्रोंको रोकता है वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा

विषयविभावोंसे लड़ रहा है तो वह अपने भावशत्रुका घात तो कर सकता है निश्चय दृष्टि से, ज्ञानस्वभावदृष्टिसे, परव्यवहारधर्मका कवच क्यों रखे हुए है कि ये विषयकषाय यदि आक्रमण करें तो इस व्यवहारधर्मके प्रतापसे हम बच जायेंगे, इसलिये यह व्यवहारधर्मका पालन है। जिससे कि हमारे एक निश्चयज्ञानस्वभावमें लगनेकी पात्रता बनी रहे, यह तो व्यवहारधर्मका कार्य है और निश्चय धर्मतो साक्षात् धर्म है। तो कल्याणार्थीको वे दोनों धर्म पालने के योग्य हैं। जिसको यथार्थ निर्णय हुआ है, सत्यपथका निश्चय हुआ है ऐसा पुरुष निश्चयमार्गमें लगता है और जब नहीं कर पाया, कर्मोदयकी ऐसी प्रेरणा है न अवलोकन कर सका तो भी जो भी प्रवृत्ति करेगा, उस ज्ञानकी परिणति ऐसी होगी जो इस लक्ष्यके एकदम खिलाफ न जाये। उसीका नाम व्यवहारधर्म है। जैसे विषय भोगोंमें मग्न होना यह आत्मसुधको बिल्कुल खो देता है और पूजामें, भक्तिमें, दानमें, गुरुसेवामें लगते हैं। यद्यपि यह भी निश्चयकी निश्चलवृत्ति नहीं तो भी दान पूजा भक्ति दया अदिकके समय वह जीव उतना पात्र नहीं बन सकता कि आत्मसुधि को भी खो बैठे। आत्मसुधि रखे हैं तो आत्मदृष्टिके पात्र रह सकते हैं, पर व्यवहारधर्मके लिये शुद्ध व्यवहार पालन करनेसे इस जीवमें निश्चयधर्मकी पात्रता नष्ट नहीं होती। वैसे व्यवहारधर्म और जिन कार्योंके करनेमें धर्मधारणकी पात्रता नष्ट हो जाती है वह कहलाता है पाप। जैसे बताया गया है कि राग पाप है। भले ही राग पाप है और एक विषयका राग हो और एक भगवानके गुणों का राग हो। भगवानके गुणोंमें अनुराग होनेसे पाप भाव नहीं उत्पन्न होता और पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें राग करनेसे पाप भाव बढ़ता है। भगवानके गुणोंमें अनुराग होनेमें पुण्य बताया है और विषयभोगोंमें अनुराग होनेको पाप बताया है। तो व्यवहारधर्मका पालन करते हुये निश्चयधर्मका भी लक्ष्य न छोड़कर यथाशक्ति प्रयत्न करते हुए अपनी स्वभावदृष्टिमें रहें तो इससे अहिंसाव्रतकी सिद्धि होती है।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणं च ॥१८५॥

अचौर्याणुव्रतके अतिचार—गृहस्थोंके बारह व्रतोंमें एक अचौर्यअणुव्रत है। सो अचौर्यअणुव्रतमें क्या क्या दोष लग सकते हैं, उन दोषोंका इसमें वर्णन है। किसी खोटी चीजको किसी अच्छी चीजमें मिलाकर बेचना इसमें अतिचारका दोष है। हालांकि एकदम किसीकी चीज हर नहीं रहे, खाली बेच रहे पर लोगों की आंखोंमें धूल डालकर बेच रहे हैं। जैसे घीमें तेल मिलाना, दूधमें पानी मिलाना आदिक खोटे कामों में अनाचारका दोष लगता है, लेकिन अचौर्यव्रतके प्रति ध्यान है और भय भी लगा है, इस कारण उसे अतिचारमें शामिल किया है।

दूसरा है स्तेणनियोग अर्थात् चोरी करने वालेको सहायता देना, चोरी करानेमें मदद करना और चुराकर लायी हुई चीजका ग्रहण करना, चोरीकी चीजको सस्ते भावमें खरीद लेना, उसे कीमती भावमें बेच देना—ये सब अतिचार कहे गये हैं। एक है राजविरोध अतिक्रम। राजाने जो नियम बनाया है उसका उल्लंघन करना। जैसे किन्हीं दो राज्योंमें लड़ाई छिड़ गई हो और किसी तीसरे देश वाले उन दोनोंको और भी लड़ाकर अपना लाभ उठायें, इसमें वे समझ रहे हैं कि हम चोरी कर रहे हैं, यह अतिचार दोष है। चुंगीका टैक्स वगैरह कोई चुराले, सरकारके नियमका कोई उल्लंघन कर दे तो वह भी चोरीका अतिचार है। अचौर्य महाव्रतमें जो ५ भावनायें कही गई हैं, उनमें एक भैक्ष्यशुद्धि भावना है कोई कहे कि इस चोरीके त्यागका विधिवत भिक्षा लेनेसे क्या सम्बन्ध है? तो जो लोग भिक्षा भोजन कर रहे हैं और कदाचित कोई छोटासा बाल निकल आये, उसको अगल बगल करके यों ही हटा देवे उसका अन्तराय न माने और खा ले तो बतावो उसमें चोरीका दोष लगा कि नहीं? तो भिक्षाकी जो शुद्धि न बने तो उसमें चोरीका दोष लगा। ऐसे ही राजाने जो भी नियम बनाया तो उसमें भी चोरीका दोष लगता है। जैसे एक नियम बनाये कि इस रास्तेको कोई यों ही सीधा क्रास न करे इधरसे जावे और कोई करे सीधा ही उस रास्तेको क्रास तो उसमें चोरीका दोष लगता है। चोरीके दोषको दिल गवाही दे देता है। जहां छुप करके करने का भाव है उसके मायने चोरी है। छुपकर चाहे अपनी ही चीज खाये तो वह चोरी है। घरका लड़का पैसा उठाता

है, पर छुपकर उठाता है तो वह चोरी है। छुपकर कोई भी काम करे तो वह चोरी है। घरकी चीज छुपकर उठाकर खाये वह चोरी है। छुपकर जो काम किया जाये उसका ही नाम चोरी है। कोई पूछे कि घरके कई काम ऐसे होते हैं कि सबके सामने किये जाते हैं और कई कई काम ऐसे होते हैं कि अकेलेमें किये जाते हैं तो वहां चोरी लगी कि नहीं? जैसे मानों स्त्री पुरुष रहते हैं, वे लुक छिपकर परस्परमें कुछ वार्तालाप करते हैं, लोगोंकी जानकारी छिपाते हैं तो वह चोरी है। यदि वे यों ही लोगोंके सामने बैठकर खुले आम बात करें तो वह चोरी नहीं है। दूसरोंकी जानकारी से छुपावे तो वह चोरी है। ५ वां अतिचार है हीन और अधिक माप। चीजोंके खरीदने व बेचनेमें बांट तोलमें कम व ज्यादा रखना यह चोरी है। सेरभरका बांट १५ छटांक रखे अथवा १७ छटांक रखे तो वह चोरी है। वह कोई चोरी तो नहीं कर रहा, मगर हीन अधिक बांट वस्तुवोंके खरीदने व बेचनेमें काम लेता है तो वह चोरी है। ये ५ अचौर्यव्रत अतिचार हैं, इन्हें त्यागना चाहिये, तब अहिंसाव्रतकी सिद्धि होगी। अहिंसाव्रतके मायने हैं रागद्वेष रहित विशुद्ध ज्ञानपरिणाम होने का। अपनी अहिंसा, अपने परमात्मतत्त्वकी अहिंसा, अपने आत्माकी अहिंसा होती है रागद्वेष भावसे। रागद्वेष न करें तो मेरा ज्ञान शुद्ध रहेगा, समतामें रहेगा तो समता कहो, अहिंसा कहो एक ही बात है। अहिंसाकी सिद्धिके लिये अणुव्रत गृहस्थको निर्दोष पालना चाहिये।

स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।

अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार—अब ब्रह्मचर्य अणुव्रतके ५ अतिचार कहते हैं। ब्रह्मचर्य अणुव्रत है स्वदार संतोषव्रत। परस्त्रीका सर्वथा त्याग और अपनी स्त्रीमें सन्तोषसे रहना, वहां भी कामवासना न रखना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। पहिला अतिचार है कामसेवनकी अतिशय लालसा रखना। यह अणुव्रत है, इसलिये यह व्रत गृहस्थके लिये हैं। पर उसमें तीव्र लालसा होना, उसकी धुन रहना, यह ब्रह्मचर्यव्रतका अतिचार है। दूसरा दोष है अयोग्य अंगोंसे रतिक्रीड़ा करना। तीसरा है अन्यका विवाह करना। ये ब्रह्मचर्याणुव्रतमें दोष कहे जा रहे हैं। जैसे कुछ लोगोंका शौक होता है यहां वहां शादी सम्बन्ध करानेका तो यह भी ब्रह्मचर्याणुव्रतका एक अतिचार है। तीसरा अतिचार है अपाणिग्रहता अर्थात जिसका विवाह न हुआ हो ऐसी स्त्रीसे सम्बन्ध रखना, गमन करना। यों समझिये कि वेश्या जो बिना विवाहकी होती हैं और जो विवाहसहित घरमें रहने वाली हैं, इन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंसे सम्पर्क रखना, विलक्षण सम्बन्ध, घनिष्ठता—ये भी अतिचार हैं। ये ब्रह्मचर्याणुव्रतके ५ अतिचार हैं। ब्रह्मचर्य कहते हैं—शब्दार्थमें ब्रह्म मायने आत्मा, उसमें चर्य मायने ठहर जाना। आत्मामें ठहर जाना भी ब्रह्मचर्य है। आत्मामें रमण करनेके बाधक ५ पाप हैं। हिंसा करनेसे, किसीका दिल दुःखानेसे भी ब्रह्मचर्य नहीं रहता, क्योंकि ब्रह्मचर्यका अर्थ है आत्म मग्नता। जो दूसरेका दिल दुःखा रहा वहां आत्माकी सुध कहां है? हिंसा करता है, उसमें भी ब्रह्मचर्यका भंग है। झूठ बोलना उसमें भी आत्माकी सुध नहीं है। तो स्वरूपकी सुध हो जाना, इसका नाम है ब्रह्मचर्य। तो जिसके ऐसे संकल्प विकल्पमें धुनि लग रही है ऐसे पुरुषके ब्रह्मचर्य कहां, आत्माकी सुधि कहां? तो झूठ बोलनेमें भी ब्रह्मचर्यका भंग, चोरीमें भी ब्रह्मचर्यका भंग। परवस्तुवोंमें मौज मानने का परिणाम है तो वहां भी ब्रह्मचर्य कहां? ब्रह्मचर्यके भंगमें ब्रह्मचर्य भंग है ही और परिग्रहकी लालसामें भी ब्रह्मचर्यका भंग है। इनमें आत्माकी सुध नहीं रहती। तो ब्रह्मचर्यका घात पांचों पापोंमें है, मगर चौथे नम्बरके पापको ही ब्रह्मचर्यघातक क्यों कहा? सभी अतिचार हैं। आत्मा अपने स्वरूपको छोड़कर पर वस्तुवोंमें रमे उसका नाम अतिचार है। तो चौथे नम्बरके कुशील नामके पापके कुशील हैं। ब्रह्मचर्यघातमें कुशील पापकी रूढ़ि होनेका प्रयोजन यह है कि पापोंमें कुशील नामका पाप कुछ ऐसी विलक्षण जातिका है कि जहां आत्माकी सुध बिल्कुल खो बैठते हैं, इसलिये कुशील नामक पापको ब्रह्मचर्यका विरोध कहते हैं। ये पांचों प्रकारके पाप ब्रह्मचर्यव्रतके घातक हैं, ये दोष हैं। शील जीवनमें बाड़की तरह रक्षक है। जैसे

फसलकी रक्षाके लिये खेतोंके चारों और बाड़ लगाई जाती है ऐसे ही अपने जीवनकी रक्षाके लिये ये ९ शील बाड़की तरह हम आपके रक्षक हैं। ये शील पापोंसे बचाते हैं। इनकी रक्षा न करना अतिचार है।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया पञ्च ॥१८७॥

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके ५ अतिचारोंमें आदिकके दो अतिचारोंका कथन—अब परिग्रह परिमाण अणुव्रत के ५ अतिचार कह रहे हैं। परिग्रह परिमाणके इन व्रतीश्रावकोंने १० प्रकारके पदार्थोंका परिमाण किया। पहिले तो घर। एक घर रखना, दो घर रखना, नियम किया, फिर उससे ज्यादा न रखे तो वह उसका परिग्रह परिमाण व्रत है। एक घर रखा नियममें और उसी घर से लगा हुआ कोई दूसरा मकान हो। वहां से भी सम्बन्ध रखे और दरवाजा सिर्फ एक रखे और कहे कि हमने एक ही मकान परिमाणमें रखा है तो उसका यह कहना मिथ्या है। एक घरका नियम तो बना रहा और सोचकर केवल परमाणुको इस तरह लुप्त करे तो वह अतिचार है। देखो उसकी समझमें व्रतपालन का उसके चाव तो है कहीं मेरा परिग्रह-परिमाण भंग न हो जाय, इस तरहकी दृष्टि है तो चूंकि व्रतकी ओर उसका झुकाव है और फिर कह रहा है भंग तो उसे अतिचार में शामिल किया है जब व्रतका ख्याल ही न करे तो उसमें पूरा भंग ही हो गया। भूमि, खेत जैसे मानों किसीने ४ रखनेका नियम किया, पर पास पड़ौसकी पड़ी हुई जमीनको तोड़ ले, अपने खेत की मेड़को मिटाकर वैसे ही चार खेत बना ले तो उसकी वह मर्यादा नहीं है। यद्यपि क्षेत्रकी मर्यादा कहीं भंग न हो जाय इस ओर तो कुछ विचार है, पर उसने किया भंग तो वह अतिचार है। कोई सोना चांदी आदिका परिमाण रखे है, मानो एक किलो सोना और दस किलो चांदीका परिमाण है, पर मौका पड़ने पर वह ३ किलो सोना कर ले और ८ किलो चांदी रख ले, ११ किलो हो गये, ऐसा यदि कोई करे तो वह अतिचार है। व्रतपालनकी ओर उसका लगाव है, व्रतभंग करनेके लिये स्वच्छन्द नहीं हुआ है, इतनी भर बात है, इसलिये उसे अतिचार कहते हैं। जैसे कोई लड़का कोई पाप करता हो, किन्तु शर्म रखता हो तो बाप यह कहता है कि अभी मेरा लड़का बिगड़ा नहीं है। एक सेठ का लडका था। वह वेश्यागामी हो गया। उसके बापको भी यह पता हो गया कि लड़का वेश्यागामी हो गया। एक व्यक्तिने आकर शिकायत भी की कि आपका लड़का वेश्याके यहां जाता है। तो वह सेठ कहता है कि अभी मेरा लड़का बिगड़ा नहीं है। तो वह व्यक्ति बोला कि अरे आप कहते हैं कि मेरा लड़का बिगड़ा नहीं है, पर चलो हम आपको चलकर दिखा दें। जब सेठ उसके साथ देखने गया तो सचमुच वह लड़का वहीं खड़ा था। उस लड़केने अपने पिताको देखकर अपने हाथोसे अपनी आंखे बन्द कर लीं। तो वह सेठ उस व्यक्तिसे कहता है कि देखो मेरे लड़केमें अभी मेरे प्रति कुछ आन तो है। जब यह बेशर्म होता, मेरी कुछ आन न होती तो मैं इसे बिगड़ा हुआ समझता, पर इसको हमारी आन है, इसलिए अभी बिगड़ा नहीं है। इसी ढंगकी बात यहां देखनी है कि व्रतके अतिचार लग रहे हैं, बड़े दोष लग रहे हैं, तिस पर भी उसका अभी व्रतकी ओर लगाव है, व्रतभंगका भय है, फिर भी तीव्र उदयवश दोष लग रहा है तो वह उस व्रतका अतिचार है। इस तरह सोना चांदीका जो परिमाण किया था, गृहस्थने परिग्रहपरिमाणमें उसका अतिचार है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके शेष अतिचारोंका कथन—धनधान्यपरिमाणातिक्रम—धन नाम है गाय भैंस आदिकका और धान्य नाम है अनाजका। गोधनका परिमाण ले लिया, उसका भंग हो रहा है। जैसे संख्या रख ली कि मैं १० गाय रखूंगा, पर चार पाच गायोंके बछड़े पैदा हो गये तो उसमें थोड़ा ऐसा संकल्प बना लिया कि ये तो बछड़े है, पड़े हैं तो क्या हुआ? तो उसने भंग तो कर दिया व्रतका, पर उसके थोड़ी समझ ऐसी बनी है कि मेरे परिग्रह परिमाणका व्रत बना रहे, उसलिये जबरदस्ती सूझ बनाई। धान्य अनाजमें कोई परिमाण भंग करे तो वह अतिचार है। नौकर नोकरानीका कोई परिमाण रखे हैं, कुछ समय पाकर वह नौकर घटा ले

और नौकरानी बढ़ा ले तो चूंकि उसने हेरफेर ही किया, पर यह परिमाणका अतिचार है। वस्त्र बर्तन आदिका परिमाण करने उसमें अदल बदल करने लगे तो वह अतिचार हो गया। बर्तनोंका परिमाण रखकर उसमें कुछ संख्या गिनतीका अदल बदल करके छुपा लेना और उसका परिमाण अपनी समझमें सही मान ले तो वहां पर भी वह परिग्रह परिमाणका अतिचार है। इस तरह परिग्रह परिमाणके जो १० परिमाण थे उनमें दोष लगते हैं। ५ अणुव्रतोंके सन्तोष पालन करने के लिए गृहस्थ ७ शीलोंका पालन करता है। ७ शीलोंमें ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रतमें पहिला गुण है दिग्व्रत। हम चारों दिशावोंमें इतनी दूर से अधिक न जावेंगे, इस प्रकारका नियम ले लेना दिग्व्रत है जैसे किसीने यह नियम लिया कि पूरबमें ५०० मील और पश्चिममें ५०० मील से अधिक दूर न जावेंगे और मौका पड़ने पर वह पश्चिममें २५० मील कर ले और पूरबमें ७५० मीलसे कर ले तो उसने सही सीमाका भंग किया, इसलिये परिग्रह परिमाणमें दोष लग गया। ऐसे ही दिग्व्रतके जो ५ अतिचार हैं उनको बताते हैं।

ऊद्ध्र्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

दिग्व्रतके अतिचार—दिग्व्रतके ये ५ अतिचार हैं ऊपर नीचे समान भूमिके किये हुए परिमाणका उल्लंघन करना, उससे बाहर चले जाना इसका नाम अतिचार है। ये तीन अतिचार हो गये। ऊपर पर्वतादिकमें चढ़ने के लिये मानों तीन साल तकका नियम लिया और नीचे कुवां आदिकके लिये मानों एक फर्लागका नियम लिया इस नियममें यदि वह कुछ हेरफेर करे या थोड़ा उल्लंघन भी करे प्रयोजनवश तो वह अतिचार है। इसी प्रकार दिशावोंमें भी जो नियम किया था उसका हेरफेर करे तो वह अतिचार है। दिग्व्रतके ये तीन अतिचार हैं। चौथा है—जो मर्यादा की थी उसका स्मरण न करके अधिक चले जाना या स्मरण ही न रखना, उस ओरका याद भी न करे तो वह चौथा अतिचार है। ५ वां अतिचार है क्षेत्रवृद्धि। परिमाण किया था कि ५०० मील तक जायेंगे पर मौका पड़ने पर वह उस समय थोड़े समयको ७०० मील का परिमाण करे (यह सोचकर कि फिर तो पूर्व परिमाण ही पालन है वही सदाका नियम है) तो वह भी अतिचार में आया।

दिग्व्रतके पालनका लक्ष्य था कि अधिक सीमा में हमारा आरम्भ व्यापार न चले। क्यों इसका विकल्प बढ़ायें? थोड़ा ही दायरा रखें, इसके अन्दर ही हम अपने विकल्प बनायें, व्यापार करें, इससे अधिक न करें तो अहिंसाकी सिद्धिके लिये दिग्व्रत धारण किया था। अहिंसा क्या होती है? रागभाग घटे, लोभभाव घटे। तो दिग्व्रतका लक्ष्य आरम्भ परिग्रह घटानेका उसका परिमाण था, सो अहिंसा था। उस अहिंसाकी सिद्धिके लिये दिग्व्रत पालन किया, बादमें संकल्प विकल्प मचाने लगा तो उससे लक्ष्यकी कहां सिद्धि हुई? विकल्प ही तो अहिंसा है। तो उन विकल्पोंसे यह अपने चैतन्यप्राणका घात करता है। तो ये अतिचार त्यागने योग्य हैं। अगर निरतिचार दिग्व्रत पाले तो उसकी आकांक्षाएं नियमित रहें। इससे बाहर जो देशव्रतके अतिचार बताये जायेंगे वे भी नहीं कर सकते, दिग्व्रतकी मर्यादासे बाहर अपना सम्बन्ध नहीं रख सकते। अगर सम्बन्ध रखता है तो उसने शील कहां पाला? शील उसे कहते हैं जो व्रतकी रक्षा कराये। मूलमें व्रत है अहिंसा। विकल्प मचाना हिंसा है। मानों, किसीके नमकका त्याग है और वह छुहारा, मुनक्का, बूरा, पकवान आदिकी वांछा करे तो उसने विकल्प ही तो मचाया। त्याग का तो प्रयोजन था कि उनसे निवृत्ति हो जाये, मगर वह निवृत्त न हो सका तो उसने अपना व्रत पूर्णतया तो भंग नहीं किया, किन्तु दोष तो विशेष लगाया लगाया। तो अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये ५ अणुव्रत पालन किया और ५ अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये ये ७ शील पाले गये। जो दिग्व्रती है उसके ये अतिचार सम्भव हो सकते हैं। उनका यह वर्णन किया गया है। अतिचार भी टालने योग्य है। कहीं ऐसा नहीं है कि अतिचार लगें, भंग न हों। ये अतिचार ९९ अंश तकके दोष लगते हैं। अगर परिणाम उस समय व्रतपालनका है, व्रतपालन का

लक्ष्य है तो अतिचार है। मतलब यह है कि लक्ष्य विशुद्ध होना चाहिये। लक्ष्यकी विशुद्धि न होगी तो कुछ भी करें वह सब निष्फल है।

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।

क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८६॥

देशव्रतके अतिचारोंको हेयता—मुख्य व्रत तो अहिंसा है, जो जीवका उद्धार कर सकता है। जीवको शान्तिमें पहुँचाने वाला व्रत अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ है अपने आत्मामें रागद्वेष संकल्प विकल्प विषय इच्छा--ये कोई तरंग न उठे, केवल ज्ञाताद्रष्टा रह सके—ऐसी स्थिति बने उसका नाम अहिंसा है। सो देख लीजिये कि अहिंसामें अशान्तिकी कहां गुञ्जाइश है? जहाँ मोह नहीं, रागद्वेष नहीं, केवल आत्मतत्वका अनुभव है, वहां हिंसा कहां है? ऐसी अहिंसाकी सिद्धिमें मुनिराज तो अति समर्थ हैं, क्योंकि संकल्प विकल्पके बन्धनको हल कर दिया है और एक उत्कृष्ट ज्ञान उनमें जगा है। ज्ञान तो जगा हुआ है श्रावकमें भी, पर संकल्पविकल्पके बन्धन में रह रहा है, घरमें रह रहा है, आरम्भ परिग्रह व्यवहार आदिक में रह रहा है, ऐसी स्थितिमें अपनी अहिंसा की सिद्धिके लिये श्रावकको ५ अणुव्रतरूप बताया है। वे श्रावक महाव्रत नहीं पाल सकते। असिसामहाव्रत, सत्य-महाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत तथा परिग्रहत्यागमहाव्रत—इन सब महाव्रतोंको श्रावक नहीं पाल सकते इसलिये श्रावकको ५ अणुव्रत पालनेको कहा है। इन अणुव्रतोंको पालनेके लिये ७ शील पालें। इन ७ शीलोंमें एक दिग्व्रतशीलका वर्णन किया जा चुका है, उसके अतिचार बता दिये गये। दूसरा है देशव्रत। जिन्दगी पर्यंत चारों दिशावोंमें ऊपर नीचे आनेका का परिमाण रखा था, उसने बाहर का वह कुछ भी सम्बन्ध नहीं रख सकता। कुछ समय तकके लिए नियम करके कि मैं अमुक समय इतनी देर मन्दिर में रहूंगा, दशलाक्षणीके दिनोंमें इस नगरसे बाहर न जाऊंगा, ऐसा नियम ले ले, फिर उतनेसे बाहरका उतने समय तकके लिये किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखे, अपने मुख्य कर्त्तव्यसे सावधान रहे, उसका नाम देशव्रत है। इस देशव्रतमें ५ अतिचार लगते हैं, जिनका त्याग करना चाहिए। वे ५ अतिचार क्या हैं? जो नियम रखा था—जैसे मैं पौन घण्टेको इस हालसे बाहर न जाऊंगा ऐसा कोई नियम करे तो उसका प्रयोजन है कि उतने समय तक उसमें बाहरके संकल्पविकल्प न करे। इससे बाहरके संकल्पविकल्प बनाये तो इसमें हिंसा हुई। विकल्प बने, विषयकषायोंके परिणाम बने सो ही आत्माकी हिंसा है। जीवको और दुःख क्या है? केवल एक मनका दुःख है, एक इच्छाका दुःख है। एक सोचनेभरसे कुछ संज्ञावोंके कारण दुःख बना लिया है। जीव तो स्वयं आनन्दस्वरूप है। उसके स्वरूपमें दुःखका तो नाम ही नहीं है। मगर जहां संभाल न की, रागद्वेष विषय कषाय किए, वहीं दुःख बन जाते हैं। जब अपनी ओर दृष्टि लगे तो ये सब क्लेश शान्त हो जाते हैं। परकी ओर दृष्टि जाये तो क्लेश बढ़ जाते हैं।

देशव्रतके पांच अतिचार— तो इस देशव्रतीने पर्वतादिक क्षेत्रोंके बाहर किसीको भेजनेका संकल्प विकल्प किया तो उसने अपनी मर्यादका भंग किया और वहां विकल्प होनेसे इसे हिंसा लगी। यह दोष है, इसका त्याग करना चाहिये। कोई जैसे नियम ले ले कि हम एक घण्टा मन्दिरके हालमें रहेंगे और नियम करके रह गये तो यह नियम केवल इतनेसे ही पूरा न होगा, उसे चाहिये कि उतने समय तक मंन्दिरसे बाहरका कोई भी किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न रखें। अगर उतने समय वह मंदिरसे बाहरका किसी भी प्रकारका अपना सम्बन्ध बनाता है तो उसमें दोष है, वहां इस जीवकी हिंसा होती है। हम आपका कितना सौभाग्य है कि आज पवित्र जैन शासन मिला है। इसका आलम्बन लेकर अनेक मुनिराज पवित्र हुए हैं। जिनकी मूर्ति बनाकर हम आप पूजते हैं, उन्होंने भी क्या किया? उन्होंने भी जैनशासनका आलम्बन लेकर अपने आत्माको कर्मकलंकोंसे रहित किया। जैनशासन मानने वालोंको यह सिद्धान्त इतना इष्ट है कि कभी इस जैनशासनके मंदिर पर कोई आक्रमण तो सभी जगहोंके जैन लोग आकर उसका मुकाबला करेंगे। जैनशासनके बलसे भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं, यह

शरीर न्यारा है। इस देहका भी मान छोड़ कर केवल ज्ञानमय आत्माका उपयोग रहे तो ऐसा अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है कि उसको छोड़कर अन्य कोई सच्चा आनन्द नहीं है। ऐसे पवित्र जैनशासनको पाकर हम प्रमादी रहें, इसका उपयोग न कर सकें तो हमारे लिये यह कितनी खेदकी बात होगी ? होगा क्या कि संसारका ऐसा ही जन्ममरण और रुलना बना रहेगा। तो उस अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये श्रावकजन जो कुछ भी प्रयत्न कर सकते हैं कर रहे हैं, उसी वर्णनमें ये देशव्रतके अतिचार चल रहे हैं। तीसरा अतिचार है शब्द सुनाकर इशारा करना। जैसे देशव्रतमें यह नियम लिया कि १ घण्टे तक हम मन्दिरसे बाहर न जावेंगे और करते क्या हैं कि खुद तो मन्दिरसे बाहर एक घण्टे तक न जावेंगे, पर तालीसे आवाज देकर इशारा करके किसीको बुला लेंगे और मन्दिरसे बाहर भेज देंगे और घड़ी, कपड़ा आदि जिस चीजकी भी जरूरत हुई सो मंगा लेंगे। तो यह उनके उस व्रतमें दोष हो गया। अरे, उस नियम लेनेका प्रयोजन तो यह था कि उस एक घण्टे तक बाहरके सारे विकल्प छोड़ दें पर बाहरके और और विकल्प बना डाले। तो इसमें अतिचार का दोष है। ५ वां है कङ्कड़ पत्थर आदिक फेंककर किसीको बुलाना। चूंकि १ घण्टे तकके लिये मन्दिर में अन्दर मौनसे रहने व कहीं न जानेका व्रत लिया है सो बिना बोले कङ्कड़ पत्थर आदि फेंककर किसीको बुलाकर अपना मन्दिरसे बाहरका काम करा लेते हैं तो यह उस देशव्रतमें दोष है।

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।

असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

अनर्थदण्डविरतिके कन्दर्प व कौत्कुच्य नामक अतिचार—अब तीसरा अतिचार है अनर्थदण्डव्रत। जिन कामोंसे अपना कुछ प्रयोजन नहीं, न आजीविकाका प्रयोजन है, न भूख प्यास मिटती है, न कोई धर्मका काम बनता है तो ऐसे अनर्थके कार्य करना अतिचार है। इस अनर्थदण्डके त्यागनेका नाम है अनर्थदण्ड विरति। उसके ये ५ अतिचार हैं—हास्यसे मिले हुए, कामसे भरे हुए वचन बोलना। जैसे किसी समारोह पर या विवाह आदिके अवसर पर परस्परमें एक दूसरेसे मजाक करे, काम सम्बन्धी वचन करे, हर्ष करे तो वह अनर्थदण्ड है। वह अनर्थदण्डव्रतका अतिचार है। मनुष्यको वचन मिले हैं। जरा दृष्टि डालो अन्य जीवों पर कि पशु पक्षी वचन नहीं बोल सकते, अपने मनकी बात दूसरोंसे नहीं व्यक्त कर सकते और जो तोता आदि पक्षी बोल भी सकते हैं, वे उतना ही बोल सकेंगे जितना सिखा दिया। उन शब्दों को वे मुखसे बोल देंगे, पर उन्हें उसका भाव नहीं मालूम है। जैसे तोते को राम राम रटा दिया गया तो वह राम राम तो बोल लेगा, पर उसे यह अर्थ नहीं मालूम कि किस राम भगवानके लिए कहा जा रहा है। एक पञ्जाबीने एक तोते को रटा दिया कि इसमें क्या शक। अब जब भी वह तोता बोले तो वही शब्द बोले कि इसमें क्या शक। वह तोता अच्छा था। एक ब्राह्मणने उसे देखा तो वह तोता बड़ा अच्छा लगा। वह पञ्जाबीसे कहने लगा कि क्या तोता बेचोगे ? पञ्जाबी बोला कि हाँ बेचेंगे। कितनेमें दोगे ? १००) में। अरे, तोते तो ८–८ आनेके बिकते हैं। इसमें क्या खासियत है जो इसकी कीमत १००) है ? पञ्जाबी बोला कि इस तोते से ही पूछ लो कि तुम्हारी कीमत १००) है क्या ? जब ब्राह्मणने तोतेसे पूछा कि तुम्हारी कीमत १००) है क्या ? तोता क्या कहता है ? इसमें क्या शक। ब्राह्मणने उसे १००) में खरीद लिया यह सोचकर कि यह तोता बड़ा विद्वान् मालूम होता है। दूसरे दिन उस तोतेके सामने वह ब्राह्मण रामायण लेकर बैठ गया। कुछ रामकथा सुनाने लगा। फिर ब्राह्मण ने पूछा कि कहो तोते ठीक है ना ? वह तोता कहता है कि इसमें क्या शक ? ब्राह्मणने सोचा कि यह तो बहुत ऊंचा विद्वान मालूम पड़ता है कुछ और ऊंची बातें सुनाने लगा, बादमें आत्मस्वरूपकी कथा सुनाने लगा, पर उत्तर वही एक मिला कि इसमें क्या शक ? अब ब्राह्मणको भी शक हो गया। ब्राह्मणने पूछा कि ऐ तोते ! क्या मेरे १००) पानीमें चले गये ? वह तोता बोला कि इसमें क्या शक ? तो इन पशु पक्षियोंमें यदि कोई शब्द भी बोल दे तो उनको उन शब्दोंका भाव नहीं मालूम होता। तो उन पशु पक्षियोंके मुकाबलेमें हम आपका कितना उत्कृष्ट जीवन है ? हम आप सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, सम्यग्ज्ञान बना सकते हैं और सम्यक्चारित्र धारण कर सकते हैं,

मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। अन्य भव कोई ऐसा नहीं जहांसे यह आत्मा अपना कल्याण कर सके। इतना उत्कृष्ट भव पाकर यदि इसे विषयभोगोंमें ही गंवा दिया तो क्या लाभ पाया ? जैसे किसीसे पूछा कि आप कहाँ गये थे ? वह बोला कि दिल्ली। वहां क्या किया ? भाड़ झोंका। अरे, भाड़ ही झोंकना था तो अपने ही गांवमें क्या कमी थी ? ऐसे ही कहां गये थे ? मनुष्य भव में। क्या किया ? विषय भोगोंमें रमकर अपना जीवन बिताया। अरे विषयभोगोंमें ही रमना था तो पशु पक्षियोंके जीवनमें क्या कमी थी ? वे भी तो आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि चारों संज्ञावोंसे अपना सुख मानते हैं। वहां क्या कमी थी ?

अरे ! यह मनुष्यभव विषयकषायोंसे, विषयभोगोंसे मौज माननेके लिये न मिला था। यह मनुष्यभव मिला था सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये, वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय करने के लिये, ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव करनेके लिये। अन्यत्र यह काम नहीं किया जा सकता। ऐसी अनुपम बात कि उससे इस जीवनकी सफलता है। तो वह अवधारण करते हैं कि हम राग द्वेष मोह से हटें, अपने उपयोगको एकमात्र तत्त्व के अनुभव करनेमें लगायें, उसमें तो हमारा लाभ है और राग द्वेष मोहसे कुछ भी लाभ नहीं है। यहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके आखिर अंधेरेमें ही तो रहे। किसी इष्टसे स्नेह हो गया तो उसका वियोग होने पर, बिछोह होने पर फिर बड़ा क्लेश होगा। जो इष्ट वस्तुमें हर्ष मानता है उसको वियोगके समय दुःख होता है। मिली हुई हाल में मिला क्या ? पुद्गल हैं, पिंड है, उससे आत्माको कुछ नहीं मिलता है, बल्कि राग द्वेष विकल्प आदि हो जाते हैं। ऐसे इष्ट समागमोंमें हर्ष न मानना यह गृहस्थका बड़ा तपश्चरण है। यहां अनर्थदण्डव्रतके प्रयोजनमें इतना ही कहा जा रहा है कि हे गृहस्थ ! जिस कामसे तुम्हें कोई प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो रही, जो व्यर्थकी बातें हैं उनको छोड़ो, अपना जीवन निर्भार बनावो, विवेक बनावो। प्रथम तो मनुष्य जितना कम बोलेगा उतना उसमें विवेक बनेगा और जब वह वचन बोलेगा तो हित मित प्रिय बोलेगा। यदि किसीकी ऐसी प्रकृति हो तो उस मनुष्यका कितना शान्त वातावरण रहता है। तो जो हास्य वचन बोलना है मजाक भरा वचन बोलना है वह अनर्थदण्डका अतिचार है।

अनर्थदण्डविरतिके भोगानर्थक्य मौखर्य असमोक्षिताधिकरण नामक अतिचार—तीसरा अनर्थदण्ड है अनर्थ भोगउपभोगके साधनोंका संचय करना। जैसे कई चीजें बड़ी सस्ती बिक रही हों तो चाहे उनकी जरूरत कुछ न हो, पर खरीदकर घरमें भर लेते हैं तो बिना प्रयोजन चीजोंको खरीदकर घरमें डाल लेना यह तीसरा अतिचार है। जैसे बच्चे लोग अपनी जेबमें कंकड़ पत्थर आदि बिना प्रयोजन भरे रहते हैं। लोगों को देखनेकी इच्छा हो जाती है कि देखें तो सही कि यह बच्चा जेबमें क्या क्या भरा है ? तो जैसे उन बच्चोंकी वे बिना प्रयोजनकी चेष्टायें हैं ऐसे ही कोई मनुष्य बिना प्रयोजनके परपदार्थोंका संचय करे तो वह अनर्थदण्डव्रतका दोष है। इस गृहस्थको केवल दो कामोंसे प्रयोजन है। एक तो आजीविका, क्योंकि आजीविकाके बिना गृहस्थ गृहस्थ नहीं रह सकता। वह बेकार है, व्यापार चाहिये, आजीविका चाहिए। तो आजीविकाका कार्य गृहस्थको आवश्यक है और दूसरा धर्मपालन करना, जिससे परलोकका सुधार हो। इन दोके अलावा बतावो मनुष्यको और क्या करना पड़ा है ? दुनियामें यश इज्जत नामवरी धन दौलत आदिके पीछे जो इतना हैरान हो रहे हैं, जो इनमें बड़ा मौज मान रहे हैं, इनसे कुछ सिद्धि न होगी। वह मौज काल्पनिक है। मरनेके बाद जो भी अन्याय किया उन सबका फल भोगना पड़ेगा। यहां तो केवल आजीविकाका साधन चाहिये और आत्मशान्तिके लिये धर्मपालन चाहिये। इन दो चीजोंके सिवाय तीसरा कौनसा काम आत्माके लिये लाभदायक है ? खूब खोज लो। जिस काममें हमारा कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता उन कामोंकी बात न बोलें, वहां कुचेष्टा न करें, भोगोपभोगके साधनोंमें न बहें। चौथा अतिचार है वाचालिक। अधिक बोलने की आदत अच्छी नहीं होती। देखा होगा कि अनेक लोग बहुत बहुत बोलते रहते हैं। बहुत बोलने वालेमें एक तो हृदयकी माप नहीं रहती, जैसा चाहे बोल सकता है। पीछे अशान्त वातावरण हो जाता है, लोगोंकी दृष्टिमें गिर

जाता है। फायदा कुछ नहीं मिल पाता। अधिक बोलने वाला अनर्थदण्डका अतिचार करता है। ५ वां अतिचार है बिना विचारे कार्य करना। बिना प्रायोजनके कार्योंकी प्रवृत्ति करना इससे आत्माकी हिंसा है और जिससे आत्माकी हिंसा हो वह आत्माका दोष है।

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

सामायिकनामक शिक्षाव्रतके अतिचार— ७ शीलोंमें ३ गुणव्रत होते हैं—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत। इनको तो बता दिया। अब चौथा शिक्षाव्रत होता है। जिससे मुनिधर्मकी शिक्षा मिले उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। उनमें प्रथम शिक्षाका नाम है सामायिक। सामायिकका अर्थ है रागद्वेष न करके अपने समताकी उपासना करना, आत्मध्यान बनाना, शुद्ध चिन्तन रखना, रागद्वेषसे हटे रहना। इस सामायिकव्रतमें में ५ प्रकारसे अतिचार लग जाया करते हैं जिनका गृहस्थको त्याग करना चाहिये। वचनोंका दुरुपयोग करना, खोटे वचन बोलना, बिना सोचे वचन बोलना—ये भी अतिचार हैं। मनसे दुष्प्रवृत्ति करना, जैसे बैठे हैं मन्दिरमें और ध्यान बनाये हैं दूकानका, घरका तो वह भी सामायिकव्रतका अतिचार है। सामायिकमें कायाको स्थिर न करके, जैसा चाहे टेढ़ा मेढ़ा बन्दरों जैसा बैठ जाना, यह भी अतिचार है। जिस अपना मन वशमें करना है, मनको शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें लगाना है तो उसे पहिले यह भी चाहिये कि कायको सीधा स्थिर रखे, वचनोंका परित्याग करे। अन्तरमें भी कोई अन्य वचन न निकले और फिर मनको स्थिर बनाये तो मन वचन काय इनका दुरुपयोग न करे। इन मन वचन कायकी संभाल न करे, इनको अस्थिर रखे तो वह सामायिकव्रतका अतिचार है। चौथा अतिचार है सामायिकव्रतका अनादर करना। क्या करें ? समय काफी हो गया, बार बार घड़ी देख रहे, अभी समय पूरा नहीं हुआ। अभी कब तक बैठना पड़ेगा ? अभी तो इतने समय तक बैठना पड़ेगा। अरे ! यह तो सामायिकव्रतका अनादर है। तो सामायिककी ओर लगाव न रहने से वह अतिचार कहलाता है। ५ वां अतिचार है सामायिककी क्रियावोंका भूल जाना। ध्यान नहीं कि किस मंत्रको अभी नहीं पढ़ा, ध्यान नहीं किस दिशामें अभी नमस्कार नहीं किया, ध्यान नहीं कि अब क्या करना है ? तो ये सब सामायिकव्रतके अतिचार कहलाते हैं। सामायिकमें समताकी सिद्धि होती है, अहिंसा की सिद्धि होती है। समता अहिंसा है। दोनों एकार्थक हैं। इनमें शांति बसी हुई है। अहिंसाकी सिद्धिके लिये श्रावकने सामायिकव्रतको धारण किया है। जहां रागद्वेषादिक भाव न आने पावें वह सामायिकव्रत है। जब इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि नहीं रहती तो उससे आत्माकी विशुद्धि चलती है। ऐसे परिमाणमें रहता हुआ यह जीव सुखको भोगता है। यह जीव भेदविज्ञान करे, अपने स्वरूपपर उपयोग जमाये तो उससे इस जीवका कल्याण है और अन्य बाह्यमें फंसाने से आत्माका कोई सुधार नहीं है।

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

प्रोषधोपवासके अनपेक्षित व अप्रमार्जित आदान, संस्तर, उत्सर्ग नामक अतिचार— श्रावकके बारह व्रतोंमें एक प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत है। शिक्षाव्रत उसे कहते हैं जिससे मुनिधर्म पालनेकी शिक्षा मिलती है। प्रोषधोपवासव्रतमें तीन तो धारणा, उपवास और पारण हैं। शामको कुछ ग्रहण नहीं करना पड़ता और मुनियोंको एक बार ही भोजन बताया है। तो उसे तीन दिनका यह अभ्यास बन जाये, जैसा कि मुनियोंका बना करता है। तो यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत हुआ। इसमें ५ प्रकारके अतिचार लग सकते हैं जिन्हें लगने न देना चाहिए। वे ५ अतिचार क्या हैं ? बिना देखे, बिना सोधे वस्तु का ग्रहण करना। प्रोषधोपवासव्रतमें हर प्रकारकी सावधानी बर्तना और समितिपूर्वक रहना, किसी भी प्राणीको कुछ भी पीड़ा न हो, किसी भी जीवकी हिंसा न हो। इस श्रावकने मुनिधर्मकी शिक्षा लेनेके लिये प्रोषधोपवासव्रत किया है। मुनिधर्ममें समितियोंका मुख्य

आदर। उसमें अतिचार रहते हैं कि बिना देखे भाले वस्तुका ग्रहण करना यह उपवासका दोष है। दूसरा दोष है बिना देखे बिस्तरका बिछा देना, चटाई या साधारण कोई दरी जो भी बिस्तर रखा है, उपवासके दिनोंमें उसे बिना देखे सोधे बिछा देना, यह उपवासका अतिचार है। उपवासके दिनोंमें चर्या करनी होती है। चलना, उठना, बैठना, सोना, बिस्तर का उठाना, धरना—ये सब समितिकी तरह सावधानी पूर्वक करना चाहिये। यदि संसर्ग-का विधान बिना देखे, बिना सोधे किया है तब वह उपवासका एक अतिचार है। तीसरा—बिना देखे, बिना सोधे जमीन पर मल मूत्र आदिक क्षेपण करना। उपवासके दिनोंमें विशेषरूपसे जिसने मुनिधर्मकी शिक्षाका सङ्कल्प किया है, उसे उस समय बहुत सावधानीसे काम करना चाहिये। बल्कि यह उपवास वाला यों ही किसी जगह जाकर झट शौच पेशाब आदिक कर दे तो इसमें उसे दोष लगेगा। उसे यह देख लेना चाहिये कि जगह पर कोई जीव जन्तु नहीं है, तब मल मूत्र आदिकका क्षेपण करना चाहिये। यदि इन क्रियावोंमें वह उपवास करने वाला सावधानी नहीं रखता है तो यह उपवासका अतिचार है।

प्रोषधोपवासके स्मृत्यनुपस्थान व अनादर नामक अतिचार—उपवासके दिन यदि प्रतिक्रमण करना, पाठ करना आदिक भूल जाये, ख्याल न रहे, न करे तो यह उसका दोष है। उपवासका अनादर करना भी अतिचार है। उपवास कर लिया, क्षुधा नहीं साधी रही, खा लिया तो यह उसका दोष है। इस क्षुधाकी वेदना तो अपना मन कमजोर बना लेनेसे ज्यादा तंग करती है। इस क्षुधाकी वेदनाका साहससे बहुत कुछ सम्बन्ध है। जहां अपनेमें कुछ साहस बनाया तहां कोई कष्ट नहीं मालूम होता और जहाँ अपना साहस गिरा कि फिर दुःख ही दुःख सामने हैं। कोई भी परिस्थिति ले लो। मानों किसीका १०-५ हजार का नुक्सान हो गया। अगर साहस गिर गया तो उसका दुःख बढ़ गया और अगर साहस करके यह सोच लिया कि अरे, क्या था वह वैभव? पुण्य पापके अनुसार इसका संयोग वियोग होता है, आया था अब चला गया तो क्या हो गया? जहाँ ऐसा साहस बनाया कि उसका दुःख दूर हो जाता है। यही है आत्मबल, यही है ज्ञानबल,। सच्चा ज्ञान बने, जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा बोध बने, मैं क्या हूं और यह दुनिया क्या है, इसका सही ज्ञान बनाये रहना यही ज्ञानबल है, यही आत्मबल है और इस ज्ञानबलके सहारे ये सब दुःख संकट दूर हो जाते हैं। इस ज्ञानबलके बिना आत्माका कुछ भी बड़प्पन नहीं है। ज्ञानबलसे यहां भी सुख रहेगा और अगले भवमें भी सुख रहेगा इस कारण सम्यग्ज्ञानका अर्जन प्रत्येक आत्मार्थीको करना चाहिये। तो उपवासके प्रसंगमें अनादर करना यह उपवासका दोष है। उपवास किया जाता है आत्मबल बढ़ानेके लिये, अपने आपके स्वरूपकी नजर बसनेके लिये। कुछ एक ऐसा सम्बन्ध भी यह है कि जब उपवासमें देह हल्का भी रहता है और ध्यान लगाये तो देहका भान जरा जल्दी भी भूल कर अपने आपका भानमें लग सकते हैं। इसके विरुद्ध भरपेट भोजन कर लिया जाये तो ऐसी स्थितिमें न ध्यान जमता, न चित्त एकाग्र होता, क्योंकि वजनदार पेटके समयमें यह देहका भान छोड़कर अपने भानमें आ जाये, इसके लिये सुविधा नहीं मिलती। उपवासके समयमें यह बहुत सुगम है कि देहका भी भान छोड़कर अपने आपके भानमें लग जाये और देखिये अपने आपकी सुध रहेगी। अपने आपका जो यथार्थ परमार्थ स्वरूप है, अविकारी शुद्ध ज्ञानानन्द-स्वरूप वह दृष्टिमें रहे तो इसको कोई सकट नहीं रहता।

उपवास किया जाता है आत्माके निकट बसनेके लिये। उप मायने समीप वास मायने बसना। उपवास करने वाला अपने स्वरूपके निकट बसा करे' रहा करे, क्योंकि लोकमें सारभूत अन्य कुछ भी नहीं है। ये धन वैभव, परिजन, नामवरी इत्यादि कुछ भी लाभदायक चीजें नहीं है, इनसे शान्ति नहीं मिलती। इसके प्रति अनेक समस्यायें सामने आ आकर खड़ी होती रहती हैं, उनकी पूर्ति करनेमें बहुत दिमाग लगाना पड़ता है। तो दुनिया में कौनसी चीज सारभूत निकली? कुछ भी नहीं। आजकल लोग राज्यके अधिकारी बनना चाहते हैं, उसके लिए बड़े बड़े छल कपट भी कर रहे हैं? वे चाह रहे हैं इज्जत और धन। तो इज्जत और धन की चाहमें भी

कोई सारकी बात न मिलेगी। उनका सारा जीवन देख लो। कितने ही मिनिस्टरोंने अपना जीवन बरबादकर दिया, लोगोंकी दृष्टिसे गिर गये, उन्होने अपना जोवन दूभर बना लिया। दूसरोंको बाहरसे दिखता है कि ये बड़े सुखी होंगे, मगर उनकी क्या हालत होती है. सो एक दो दृष्टान्त तुम्हारे सामने हैं उनसे समझ लीजिये। तो संसारमें सार कहीं किसी भी स्थितिमें नहीं है। केवल सारभूत बात यह है कि आत्माका जो परमार्थस्वरूप है। तो उसके निकट बसना। यह काय कर सका तो समझो मैंने सारभूत पा ली और यही काम कोई न कर सका तो बाहरमें चाहे कोई कैसा ही कुछ कर ले उसने कुछ पाया नहीं। तो उपवास आत्माके हितमें बड़ा सहायक है। उसमें अनादर करे तो वह उपवासका दोष है।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्चः सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषयोऽपि च अन्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

भोगोपभोगपरिमाणमें अतिचारोंके वर्णनका उपक्रम— अब बारह व्रतोंमें एक भोगोपभोगपरिमाण व्रत ऐसा है जहां भोग और उपभोगका परिमाण किया जाता है। भोग वस्तुवें वे हैं जो एक बार भोगी जायें, उपभोग वस्तुवें वे हैं जो बार बार भोगी जायें। जैसे मर्दन तैल शरीरमें एक बार लगा दिया गया तो उस से पोंछकर फिर किसी दूसरेके शरीरमें कोई नहीं लगाता, फूलकी माला लो एक बार पहिन ली गई उसे दुबारा न कोई खुद पहिनता और न किसीको पहिनाता, एक बारका खाया हुआ भोजन फिर दुबारा कोई नहीं खाता तो ये सब भोग की बातें हैं और उपभोगकी वस्तुवें वे हैं जिनको बार बार भोगा जाता है। जैसे बिछौना, चारपाई, वाहन, कपड़े इत्यादि। तो इन भोगोपभोगकी चीजोंका परिमाण श्रावक रखते हैं। परिमाण इसलिए किया जाता है कि उससे अधिक वस्तुके प्रति विकल्प न हो जाय। विकल्प हटाना यह जैनशासनका लक्ष्य है। मुक्तिका मार्ग यही है कि विकल्प दूर हों, तब तक यथार्थस्वरूपका श्रद्धान नहीं होता जब तक विकल्प दूर हों। विकल्प होना सो संसार का मार्ग है और विकल्प न होना मोक्षका मार्ग है। विकल्प न हों इसका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचरित्र है। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र को मोक्ष मार्ग कहा है। सम्यदर्शन बिना विकल्प दूर नहीं होता, यद्यपि मन एकाग्र करनेके अनेक प्रकार हैं। कोई एक सामने शून्य बनाकर, ओ३म लिखकर उसे देखने का अभ्यास करे अथवा प्राणयाम करके श्वांसको एक जगह रोककर उस ही जगह उपयोगसे देखता रहे. इसमें भी मन एकाग्र बन सकता है। मगर कितनी बार ? उसकी भी सीमा है अथवा मन एकाग्र भी बनेगा तो ऐसी जगह रुककर मन एकाग्र बनता कि जहां एकाग्र होनेमें सीमामें भी विकल्प चलें. इसके लिये प्रथम आवश्यक है सम्यग्दर्शन। वे सब विधियां तो ठीक हैं, पर साथ ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो तो वह एक विशुद्ध मार्ग है। तो भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भोगोपभोगकी वस्तुवोंका जो परिमाण किया जाता है वह विकल्पोंको दूर करने के लिए किया जाता है। मूल बात तो यह है कि जब तक जीवको आत्मरुचि न जगे कि मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरुप हूं. स्वयं स्वभावमें आनन्दमय हूं, बाह्य वस्तुवें मेरे स्वरुप से अत्यन्त भिन्न हैं, उनको हम अपनाते हैं, पर वे अपनानेके अनुसार अपनाये नहीं जा सकते हैं। हमारे चाहनेसे हमारे मनमाफिक बाह्यपदार्थोंकी स्थिति नहीं बनती है। जब हम किसी बाह्यपदार्थमें अपने मन माफिक परिणमन चाहते हैं और होता है नहीं, तो हम दुःखी होते हैं।

अज्ञान के परिहार बिना विकल्पोंके प्रक्षेपकी असंभवता— जब तक निज व परको पर जाननेका साहस नहीं आता है आत्मामें, तब तक विकल्परहित अवस्था हमारी बन नहीं सकती। अज्ञान रहते हुए विकल्प दूर हो जाये वह कभी भी सम्भावित नहीं है। जिन्हें विकल्प हटाना है उन्हें पहिले अज्ञान दूर करना होगा। जब सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होगा तब वह साहस बनेगा कि आत्मबल बढ़ेगा, जिस आत्मबलमें ये समस्त संकट दूर हो जाते हैं। इन विकल्पोंके ही दूर हो जानेका नाम दुःख दूर हो जाना है। विकल्प आते रहनेका नाम दुःख आते रहना है। विकल्पों को छोड़कर अन्य कुछ भी दुख नहीं है। जरा अपने स्वरूप पर दृष्टि दें, अपनी वर्तमान परिस्थिति

पर दृष्टि दें तो हम अचरज और खेदके साथ सोचते हैं कि इस मनुष्यको दुःख तो कोई है नहीं और कोई दुःखी क्यों हो रहा है ? यह अपनी जगह बैठा है, अपने अपने आपमें हैं, इसमें कोई दूसरी वस्तु लगी नहीं, यह परिपूर्ण है। आत्मा जितना है उतना ही है। जो इसमें नहीं है वह इसमें आ नहीं सकता और जो आत्माकी चीज है वह आत्मासे से जा नहीं सकती। आत्मा तो परिपूर्ण हैं, अखण्ड है, पर यह व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। जो परवस्तुवोंके प्रति ये विकल्प बन रहे हैं कि ये ये चीजें मुझे प्राप्त हो जायें तो इस प्रकारके विकल्प बनानेसे ये नाना प्रकारके दुःख बन गये और जहां ये विकल्प हटे उसीका नाम आनन्द है। एक ही निर्णय है कि जहां विकल्प है वहां ही दुःख है और जहाँ निर्विकल्पता है वहाँ ही आनन्द है। मैं पढ़ा हूं, लिखा हूं नहीं, पढ़ा लिखा हूं, छोटा हूं, बड़ा हूं—ऐसे विकल्प बना बनाकर लोग दुःखी रहते हैं। छोटे बालकों को देखो बड़ोंको देखो सभी व्यर्थ के विकल्प बना बनाकर दुःखी हो रहे हैं। जो भी शांत हैं, सुखी हैं, वे साधु संतजन, ज्ञानी ध्यानी संसार के विरक्त है, ऐसे पुरुष शांत हैं। वे ही विकल्प जालोंसे दूर रहने वाले पुरुष शांत सुखी नजर आते हैं। तो वहाँ भी यही निर्णय हो कि उसने विकल्पोंको दूर किया है, इसलिए सुखी हैं, शांत हैं। और ज्यादा बातोंमें न बढ़ें, विकल्पोंका आश्रय करनेसे लाखों करोड़ों अरबोंकी सम्पत्ति व्यर्थ है। अगर विकल्पोंके आश्रय पर दृष्टि देकर कुछ निर्णय बनाया तो आप निर्णय तक पहुंच न पायेंगे और बहुत-बहुत सोचते रहेंगे। मुझे दुःख मिटाने की चिन्ता है, मुझे धन में घाटा हुआ उसका दुःख है, इसकी स्त्री लड़ती है इसलिए दुःखी है ऐसी बाहरी बातोंके नाम लेकर आत्माका निर्णय कहाँ कर पायेंगे ? उसीमें फंसे रहेंगे। इसलिये इन वस्तुओंमें विकल्प है, इसलिए दुःख हैं। यह स्पष्ट निर्णय है।

विकल्प विपदाओंके विनाशका उपाय रत्नत्रयभाव—भैया ! विकल्प मिटायें कैसे ? उसका उपाय बताया है अरहंतभगवन्तोंने—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्ग'। चाहे मोक्षमार्ग कहो और चाहे विकल्पों का हटाना कहो, कोई अन्तर नहीं है। केवल एक ही बात कह लीजिए कि विकल्प हटें सो ही मोक्षमार्ग है। मोटी बुद्धिसे कुछ स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता कि हम क्या करें। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको शांतिका मार्ग बताया है। मैं क्या हूं और यह दुनिया क्या है, इसका सही ज्ञान होना और श्रद्धान होना यह ही है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान। आत्माको सारी शांति इसीमें है। लोग शांतिके लिए बड़े बड़े उद्यम करते हैं, व्यापार करते हैं, कष्ठ उठाते हैं, पर शांति नहीं मिलती। अरे, शांतिके लिए बाहरमें चाहे जितने काम कर लें, पर शांति न प्राप्त होगी। शांति तो प्राप्त होगी अपने आपके स्वरूपका यथार्थ निर्णय करके। इस जीवने लाखों करोड़ों प्रयत्न कर डाला, पर एक यह प्रयत्न नहीं किया कि अपने आत्माको जाने और जैसा आत्मस्वरूप मिले, जाननेमें आये, बस वैसे ही जानते रहें और बाहरमें अन्य किसी बातका प्रयोजन न रखें, ऐसा भीतरमें साहस, ऐसा अन्तः पुरुषार्थ यह जीव नहीं कर सका और इसी पुरुषार्थके न करनेके कारण वही बात बन रही है जो बात अनादिकालसे बनती चली आयी है। विकल्प करना, कर्मबन्ध होना, जन्ममरण होना, बस यही सब विडम्बनायें चलती रहेंगी। तो विकल्प दूर करना बस यही धर्मका मर्म है। श्रावक अभी इतना समर्थ नहीं हुए हैं कि वे निर्विकल्प रह सकें। जिनके विकल्प चलते हैं तो वे इस प्रयत्नमें रहते हैं कि हमारे कुछ सीमामें ही विकल्प रहें। अमर्यादित विकल्पोंका जाल तो न फैले। यह उसका प्रयत्न रहता है और उसके ये जो बारह व्रत हैं उन व्रतोंका प्रयोजन बस यही है कि विकल्प जाल स्वच्छन्द-रूपसे न ठहरें।

भोगोपभोग परिमाणव्रतसे पांच अतिचार—यहां भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण किया जा रहा है। जिसने भोगोपभोगपरिमाणव्रत पाला है उसके ये ५ अतिचार हेय होते हैं। एक सचित्ताहार है। सचित्त वस्तुओंका आहार करना सचित्ताहार है। जिसने भोगोपभोगपरिमाण व्रत लिया है उसमें इतनी उदासीनता होनी चाहिए कि जो सचित्त वस्तुवोंका भक्षण न करें, पर करते हैं तो यह एक दोष है। इसी प्रकार सचित्तसे मिली हुई वस्तुका आहार करना। सचित्तसे सम्बन्ध की हुई वस्तुका आहार करना, गरिष्ठ आहार करना। मान लो भोगोपभोगपरिमाण लिया है, पर वह नियम करे किसी गरिष्ठ चीज खाने के प्रति कि अमुक

चीजके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ इतने समय तक न खाऊंगा तो इसमें उस व्रतका दोष नहीं है। गरिष्ठ भोजन अहितकारी होता है, विषयकषायोंको बढ़ाने वाला होता है। तो अपनी चर्या इतनी सरल रखनी चाहिये कि जिससे इन्द्रिय असंयम और प्राण असंयम न बढ़ सकें। भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें इस श्रावकने कुछ सीमा रखकर बाकी सभी विकल्पोंका परिहार किया है इससे अहिंसाव्रतकी सिद्धि हुई।

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अतिथिसंविभागव्रतमें परदातृव्यपदेश नामका अतिचार—श्रावकके बारह व्रतोंमें अन्तिम व्रत अतिथिसम्विभागव्रत है। अपने आत्मके उद्धारके लिये मुख्यतासे पहिलाव्रत है अहिंसा और तीर्थ प्रकृति करनेके लिए आखिरी व्रत है अतिथिसम्विभागव्रत। श्रावकके जीवनमें इन दो व्रतोंकी बड़ी मुख्यता है—अहिंसा अणुव्रत और अतिथिसंविभागव्रत। जिसकी कोई तिथि नहीं है, जब चाहे आ जाये उसे अतिथि कहते हैं। तो अतिथि नाम है मुनिराजका, जिनका कोई निश्चय नहीं है कि कब कहांसे आ जायें। चारणऋद्धिधारी मुनि तो यों ही आकाशमें विहार करके किसी भी जगह आ सकते हैं। और भी जो मुनिराज है उनके कोई बन्धन नहीं है, जहां चाहे विहार करें और विहार करते हुए कहींसे भी आ जायें वे अतिथि कहलाते हैं। आजकल काल दोषसे अतिथिपना ढंगका नहीं रहा और कहीं पर है भी, क्योंकि कुछ ऐसे समाज के न होनेसे रास्तेमें विहारकी कुछ कठिनाइयोंसे महीनों पहिलेसे प्रोग्राम बनता है और कहां पहुंचता है, क्या करना है यों प्रोग्राम चलता है अथवा अपने यश प्रतिष्ठा के लिये पहिलेसे तिथिवार बड़े नगरोंके प्रोग्राम निश्चित कर देते हैं कि अमुक तारीखको वहां पहुँचेंगे, अमुकको वहां। तो आजकल अतिथिपना नहीं रहा। अतिथि शब्दमें जो अर्थ बसा है उसके अनुसार यह हुआ करता है। अतिथियोंको दान देना, संविभाग करना सो अतिथिका सम्विभाग करना है। इतने मात्रसे उद्दिष्टका दोषा नहीं आता। उद्दिष्टका दोष आता है मुख्यतया इस परिणाममें कि अतिथिके लिये मैं इतना भोजन बना दूं और इस भोजनमें भी जो बचे वह हमें न करना, वह तो अतिथिका है और अपने लिये अलगसे भोजन तैयार करना सो उद्दिष्ट दोष है। यह मूल दोष रहता है तो उद्दिष्ट दोष समझना और यह मुल बात अगर नहीं तो नाम लेकर भी बनाये तो इतने मात्रसे उद्दिष्ट दोष नहीं होता। अतिथिके लिये प्रतिदिन सम्विभाग करना यह तो श्रावक व्रत लिये हुए है। यह तो उसका अतिथिसंविभागव्रत है। अतिथिसंविभागव्रतमें जो दोष लग सकते हैं उन्हें बताते हैं। परदातृव्यपदेश। किसी कार्यके वश बहाना बनाकर दूसरेसे दान देनेको कह देना यह परदातृव्यपदेश है। इस शब्दमें और और बातें भी ध्वनित होती हैं। जैसे दूसरेके द्रव्यका दान करे और इस रूपसे करे कि अतिथिको यह मालूम हो कि मैं ही कर रहा हूं सो भी परदातृव्यपदेश अतिचार है अथवा जिसकी वस्तु हो उसका नाम लेकर बताना कि यह अमुककी चीज है, लीजिए और फिर देना, यह भी परदातृव्यपदेश है।

अतिथिसंविभागव्रतके सचित्तनिक्षेप सचित्तपिधान कालातिक्रम व मात्सर्य अतिचार—दूसरा अतिचार है अचित्त वस्तुवोंमें आहार रख देना। जैसे अचित्त चीजें सब बनी हैं रोटी खिचड़ी वगैरह, उनमें कोई सचित्त सब्जी आदिक रख देवे तो यह है दूसरा अतिचार। यहां प्रश्न यह किया जा सकता है कि उस अचित्त चीज में सचित्त चीजके रख देनेसे अतिथिसंविभागव्रतसे क्या सम्बन्ध है? तो इसके विषयमें बताया है कि सचित्त वस्तुको अचित्त वस्तु पर भूलसे रख दें तो उसका सम्बन्ध अतिथिसंविभागके दोषसे नहीं है, किन्तु यह समझकर कि यह वस्तु थोड़ी है, इतनी ही देनी है या कोई कृपणताका भाव आकर अचित्त वस्तु पर सचित्त वस्तु रख दे, क्योंकि अचित्त वस्तु पर सचित्त वस्तु रख देनेसे फिर उसे मुनिजन नहीं ग्रहण करते हैं। यदि कोई इस तरहका काम करे तो वह सचित्त विक्षेप नामका अतिचार है और यदि कोई अचित्त पदार्थसे सचित्त पदार्थको ढक दे तो वह अचित्त पदार्थका व्यपदेश है। इसमें कितने ही भाव आते हैं। एक तो साधारणरूपसे यह भाव है कि रोज प्रायः करके मुनिजन किस समय निकलते हैं उस समयको टालकर फिर अन्य समयमें उसकी व्यवस्था बनाये तो वह परदातृव्यपदेश है। ऐसा भी

कहा गया है कि कुछ श्रावकजन रोज आहार न दे सकते थे तो कुछ नियत दिन रखा करते थे, नियम ले लेते थे। जैसे नियम ले लिया गया कि हम प्रत्येक महीनेके दोनों पक्षोंमें अमुक तिथिको मानों, पञ्चम तिथिको आहारदान करूंगा—ऐसा नियम लिया जा सकता है और इसमें एक सामाजिक व्यवस्था भी बड़ी उत्तम बनती है। अनेक श्रावक ऐसा नियम ले लेते थे कि मैं अमुक दिन अतिथिसंविभाग करूंगा तो ऐसा नियम लेनेमें उन्हें कोई उत्कृष्टका दोष न लगता था। मानों कोई पंचमीको अतिथिसंविभागका नियम ले और वह चौथको ही या फिर छठको आहार-दान देनेकी सोचे तो उसे कालातिक्रम कहा है। ५वां अतिचार है मात्सर्य मात्सर्यभावका अतिचार करना। हमारे पड़ौसीने आहार दान किया है तो मैं क्यों न करूं, हम क्या कम हैं। उसने इतने बार आहार दान किया तो मैं भी इतनी बार क्यों न करूं। इस प्रकार ईर्ष्यावश कोई आहारदान करे तो वह अतिथिसंविभागमें अतिचार है।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१६५॥

सल्लेखनाव्रत—अब सल्लेखनामें ५ अतिचार होते हैं। जितने व्रत नियम करने चाहियें उन सबका उद्देश्य अहिंसाव्रतकी साधना होता है। अहिंसाव्रत है अपने आत्माकी हिंसा न होना और शुद्ध ज्ञान स्वभाव जो आत्माका स्वरूप है, अपने आत्माके स्वभावमें रुचि जगे, बाह्यपदार्थोंमें अपना विकल्प न बसे, अपने आपके स्वभावका दर्शन बना रहे तो यह है अपनी अहिंसा और अपने हकमें बड़ी बात मात्र एक कल्याणकी है और दूसरी बात नहीं। दूसरों को जताना, दूसरोंसे व्यवहार करना, दूसरोंमें स्नेह जगाना, प्रीतिका बर्ताव करना—ये सबके सब अपनी बरबादीके लिये हैं। अपने आपका कल्याण तो अपने आपके परमात्मस्वरूपके प्रेम रखनेमें है, बाहरमें किसीसे भी प्रेम रखने में अपना कल्याण नहीं है। जब अपनी कषायें और अपना मोह दूर हो तो इसीका नाम सल्लेखना है। उपदेश तो यहां यह चल रहा है कि मरणके समयमें सल्लेखना धारण करना चाहिये, पर अर्थ यह समझिये कि आत्महितके लिये हमें सदा सल्लेखना रखना चाहिये। कषायोंका परित्याग करनेको सल्लेखना कहते हैं। हमारी बरबादी सब कषायों से हो रही है, विकल्पोंसे हो रही है। उन विकल्पोंमें भी खोटे विकल्प वे हैं जिन विकल्पोंका मोहसे सम्बन्ध है। अत्यन्त प्रकट भिन्न परपदार्थोंसे मोह करते, ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, यह मैं खुद हूं, इस प्रकारका अहङ्कार भाव जगे तो यह विकल्प ऐसा खोटा है कि इसके फलमें संसारमें रुलना पड़ेगा और अपने आपको झंझटोंमें फसाये रहना पड़ेगा। इस जीवने अनेक भव पाये और उन सब भवोंमें भोगोपभोगके यथायोग्य साधन मिले, पर इसे तृप्ति कहीं न हुई और अन्तमें उन सब साधनोंको छोड़कर जाना ही पड़ा इसी तरह इस भवमें भी जो भी समागम मिले हुए हैं, उन्हें छोड़ कर जाना पड़ेगा। कितने समयके लिये ये समागम मिले हैं, ये सब स्वप्नवत बातें हैं। जैसे स्वप्नमें राजवैभव भी मिल जाये तो वह सब झूठा है। स्वप्नकी बात तो स्वप्नकी ही है, जब नींद खुल जाती है तो हाथ मलता रहता है। ओह! क्या मिला? वह तो स्वप्नकी बात थी। इसी तरहसे ये थोड़े दिनोंको मिले हुए समागम भी कुछ ही दिनों बाद नष्ट हो जायेंगे। ज्ञान जगने पर यह पता पड़ता है। ओह! यह सब व्यर्थ है, मायारूप है, तत्त्व कुछ नहीं, सार कुछ नहीं, अत्यन्त भिन्न परपदार्थ हैं। इनमें मेरा क्या रखा है? ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष स्वप्नवत् असार समझता है। इन सारे समागमोंमें हम प्रीति न करें ऐसी नीति ज्ञानीकी है। तो इसीका नाम सल्लेखना है कि कषायें न जगें।

सल्लेखनाव्रतका जीविताशंसानामक अतिचार—अब जिसका मरणकाल निकट आया है ऐसे श्रावक ने सल्लेखनाव्रत धारण किया है। मैं किसीसे रागद्वेष न करके अपनेको समता परिणाममें बसाऊं, ऐसा सङ्कल्प किया। उस समय उस सल्लेखना मरणव्रत करने वालेके ५ प्रकारके दोष आ सकते हैं जिन्हें न करना चाहिये। एक तो जीनेकी इच्छा करना। अरे जब समाधिमरण चाहता है तो उस समय जीनेकी इच्छा क्या करना? मरण समय में इसके जीनेकी इच्छा लग बैठती है, जिससे हैरान होकर यह जीव दुःख भोगता आया है। यदि परिग्रहमें ममत्व

जाग उठे कि अहो, यह मेरा घर छूटा जा रहा है, ये घरके लोग छूटे जा रहे हैं, उन सबका लोभ आ गया तभी तो जीनेकी इच्छा बढ़ रही है। अरे जीना क्यों चाहता है ? जीनेका क्या प्रयोजन है इसका ? यही तो प्रयोजन रहता है जीने वालेका कि ऐसा मौज, ऐसा आराम, ऐसी इज्जत। ये सब हमारे बने रहें, इनको मैं खूब भोगता रहूं, इस प्रयोजनसे लोग जीने की इच्छा करते हैं। कदाचित् ऐसी भी अपने मनमें चर्चा कीजिये कि कोई इसलिये भी जीना चाहते कि हाय, मैंने संयम धारण नहीं किया था, अपने जीवनमें संयमको भली प्रकार नहीं निबाहा था और स्वच्छन्द होकर अपनी जिन्दगी बितायी थी, अब मरणकाल आया है तो अपनी पुरानी बातों पर पछतावा आ रहा है कि मैंने बहुत सावधानीसे अपने मनको संयत करके संयमका पालन नहीं किया था। अब मैं बच गया तो जीवनभर संयमको भली प्रकार निभाऊंगा, ऐसा सोचकर भी मानों यदि वह जीवित रहनेकी इच्छा करता है तो वह सल्लेखना मरणमें दोष है। वह क्यों दोष है ? प्रथम तो यह ठेका नहीं लिया गया है कि मरणसे बच जाने पर धर्ममें चित्त बना ही रहेगा। जैसे साधारण गृहस्थजन भी जब कभी आपत्ति आती है तब उन्हें धर्मकी खबर होती है। वह भी मनमें ठान लेते हैं कि यदि इस बार मैं बच गया तो सारे जीवनभर धर्ममें अपना अधिक समय लगाऊंगा, पर जब उस आपत्तिसे बच जाते हैं तो सारे धर्म कर्म भूल जाते हैं और फिर पहिले जैसी हालत हो जाती है। तो यह कोई निर्णय नहीं है कि सल्लेखना धारण करने वाला यदि मरणसे बच जाये तो धर्ममें ही अपना समय लगावे। तो सल्लेखना धारण करने वाला यदि मरण समयमें जीनेकी इच्छा करे तो वह दोष है। स्पष्ट बात तो यह है कि यह जीना ही तो अर्थात् जीवन ही तो संसार है, उस जीनेकी वांछा तो ज्ञानीके न होनी चाहिये। तो सल्लेखनाव्रत धारण कर ले और जीनेकी इच्छा करे तो यह दोष है।

सल्लेखनाव्रतका मरणाशंसानामक अतिचार व आत्मनिकटस्थ रहनेका सन्देश—दूसरा दोष है मरनेकी इच्छा रखना। बड़ी कठिन व्याधि आ गई, मही नहीं जाती तो इससे वह परिणाम बनना कि इससे तो जल्दी मर जाना ठीक है। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि समाधिमरण करने वालेके भावमें नहीं है और ऐसा करने से क्या उपद्रव बंद हो जायेंगे ? अगर जीवनसे किसी तरह छुटकारा पा लिया तो क्या यह अगले भवमें उसे छोड़ देगा ? जो कर्म इस जीव ने बांधे वे भोगने पड़ेंगे। इस भवमें भी भोगेगा और अगले भवमें भी भोगेगा। ज्ञानी जीव न मरने की चाह करता है और न जीने की। ज्ञानी जीवमें तो सब कुछ सहनेकी सामर्थ्य प्रकट हुई है। वह पञ्चपरमेष्ठियोंके ध्यानमें और अपने आत्मस्वरूपके स्मरणमें बराबर बना हुआ है। उसे किसी भी प्रकारका खेद नहीं है। तो ज्ञानी पुरुष सल्लेखनाव्रत धारण करके मरनेकी चाह नहीं करता। यदि मरनेकी चाह करे तो यह सल्लेखनाव्रतका एक दोष है। देखो जब तक भीतरके नेत्र न खुलें, तब तक मनुष्यजीवन व्यर्थसा समझिये। बाहरमें इन चर्मचक्षुवोंसे जो कुछ भी दिखता है उसमें कुछ भी सार नहीं है। उनसे इस आत्माको कुछ भी लाभ नहीं है। यह आत्मा तो रूप रस गन्ध स्पर्शरहित अमूर्तिक है। अपने लिए यह ही सब कुछ है, मोहमें कहीं कुछ नहीं है, क्योंकि अपना पूरा तो इस आत्मासे ही पड़ रहा है। जैसा यह आत्मा ज्ञान करता है वैसे ही आत्मामें भाव बनते हैं और जैसे आत्मामें भाव बनते हैं, उसके अनुकूल हममें सुख अथवा दुःख होते हैं। आत्मा अपने लिये आपका सब कुछ है और बाहरमें चाहे तीनों लोक का सारा वैभव भी सामने पड़ा हो, पर वह आत्मशान्तिके लिये कुछ नही है। सुख शान्ति तो आत्माको अपने ज्ञानसे प्राप्त होती है, बाहरी वस्तुवोंसे नहीं प्राप्त होती, पर हाय रे अज्ञान अंधेरा ! इसने बरबाद कर दिया है ऐसा ज्ञान और आनन्दका निधान परमात्मतत्त्व। उसमें स्थिरता नहीं हो सकती। उसका ज्ञान अपने आपके परमात्माके निकट एक सेकिण्ड भी न बैठ सके। बाहरी पदार्थों पर दृष्टि डाल डालकर हम कितना ही श्रम करें और इतनी भी सच्ची समझ न बनायें कि कुछ अपने परमात्माके निकट तो बैठ जायें। हम धर्मके नाम पर भगवानके दर्शन करने आते हैं, पर यह दृष्टि कभी नहीं बन पाती है कि हमारा भगवान तो हमारे ही अन्दर विराजमान है। एक बार तो अपने आपमें विराजमान उस प्रभुका दर्शन करनेका प्रयत्न इन नेत्रोंको बन्दकरके करना चाहिये। जहां सर्व परसे दृष्टि हटा

कर परका विकल्प हटाकर अपने शरीरका भी भान छोड़कर अपने आपमें बसे हुए परमात्मतत्त्वका ही ध्यान लगाया कि बस वहीं अपने आपके प्रभुके दर्शन होंगे। उस ही परमात्मतत्त्वके निकट बैठें। उससे बाहर, किसी अन्य परवस्तुके निकट मत बैठें। धर्म करनेके लिये हम आये हैं या उसमें हम अपना समय लगा रहे हैं तो इस विधिसे अपने निकट बैठें कि हमारा परमात्मतत्त्व हमारा ज्ञानस्वरूप हमारे अनुभवमें आ जाये। यों अपने स्वरूपके निकट बैठें तो हमारे भव भवके बांधे हुए कर्म सब कट जाते हैं। तभी सही मायनेमें सुख शान्तिकी प्राप्ति होती है, सारे विकल्प दूर होते हैं, सारे दुःख दूर होते हैं।

धर्मपालनके सिवाय अन्य प्रवृत्तिमें सारता अभाव—यह धर्मपालन ही सार है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ सार नहीं। मान लो दुनियाके अन्य लोगोंने मुझे जान लिया, समझ लिया तो इसमें क्या तत्त्व निकला? यह मैं तो यहाँसे गुजरकर न जाने किस जगह पहुँचूंगा, न जाने कहां जन्म लूंगा? ये लोग जिनमें हम बड़ा बड़ा यश चाहते हैं, ये लोग क्या मेरे लिये परमार्थसे मददगार हो सकते हैं? कौनसी सारभूत बात यहां है? केवल एक यों जानो कि जैसे स्वप्नमें देखी हुई बात सारभूत लगती है, ठोस लगती है, इसी प्रकार इस मोहकी नींदके स्वप्नमें अपने विकल्पोंके माध्यमसे इसे ये सब चीजें ठोस लगें, सारभूत लगें तो लगें, पर यह उसका अज्ञानभाव है। यहां सारकी बात कुछ भी नहीं है और सारकी बात जो मानी जा रही है, उसका फल संसारमें रुलना है, जन्म मरण धारण करना है। कोई किसीका साथी नहीं। यह जीव जब अपने ही कर्मोंके फलमें नरकगतिमें जन्म लेता है तो वहां सुधि करता है कि ओह! मैंने जिन जिनकी खातिर पाप किया वे सब साथी बिछुड़ गये, वे कोई भी यहाँ नहीं आये। मैंने जो पाप किया था उनका फल खुद भोगा, कोई भी उस पापफलको बंटाने वाला नहीं है। पहिले तो जरा भी सिरदर्द हुआ तो स्त्री पूछती थी कि क्या दवा लगाऊं? मित्रजन भी पूछते थे, बहुतसे चापलूस लोग भी आया करते थे पूछताछ करने। उन ठाठ बाटोंमें हमने बड़ा मौज माना, पर उस मोह और अज्ञानके फल में जहाँ न्याय अन्याय कुछ नहीं गिना अपने आत्माकी सुधि कभी नहीं की। उन कर्मोंके फलमें आज नरकगतिमें जन्म लेना पड़ा है। तो अब उन स्त्री पुत्र मित्रादिकका कुछ भी पता नहीं कि कहां गये? अब तो वहाँ जो भी नारकी सामने देखता है, वही वही विचार करके दौड़ता है कि काटो छेदो। जब नरकगतिमें जन्म होता है तब कुछ पछतावा करता है। जो ज्ञानी हो वही पछतावा करता है, वही सुधि करता है। अज्ञानी भी तो कुत्तेकी तरह एक दूसरेको देखकर लड़ते हैं, जान लेते हैं और वे फिर शरीरके खण्ड खण्ड पारेकी तरह मिलकर शरीररूप हो जाते हैं। इस प्रकारकी अनेक वेदनायें नारकी जीवोंको सहन करनी पड़ती हैं। इसमें सल्लेखनाकी बात चल रही है कि कषायोंको दूर करें। अगर कषायोंको नहीं दूर करते तो बहुतसी आपत्तियां परभवमें भोगनी पड़ेंगी। इसलिये इन कषायोंको दूर करना, सल्लेखनाका धारण करना परम आवश्यक है और उसे निर्दोष बितायें। तीसरा दोष है मित्रोंमें अनुराग करना। मित्रजनोंमें अनुराग करनेसे क्या मिलेगा? अपने सुखोंकी याद करनेसे और निदान बाँधनेसे क्या मिलेगा? ये ५ सल्लेखनाके अतिचार हैं जिन्हें न करना चाहिये।

सल्लेखनाव्रतके मित्रानुराग, सुखानुबन्ध व निदान नामक अतिचार—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जब मुनिव्रत धारण करनेमें असमर्थ है तो वह श्रावकव्रत ही ग्रहण कर लेता है और जीवनभर निरतिचार अपने श्रावक व्रतको निभाकर अन्तमें सल्लेखनाव्रत ग्रहण करता है। मरणकाल निश्चितसा समझकर वह समस्त संकल्प, विकल्प, आरम्भ, परिग्रह, कषायोंका त्याग करके समता परिणाममें रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है, उसे कहते हैं सल्लेखनामरण। सल्लेखनामरणमें ५ अतिचार लग सकते हैं, जिन्हें न लगाना चाहिये। जिनमें दो अतिचारोंका वर्णन तो हो—जीनेकी इच्छा करना और मरनेकी इच्छा करना। सल्लेखनामरण ग्रहण करके जीने अथवा व्याधि न सह सकनेके कारण मरनेकी इच्छा करना यह दूसरा दोष है। अब तीसरा अतिचार है मित्रोंमें अनुराग। मरण समयमें मित्रोंकी याद करना, मित्रोंको बुलवाना, उनमें अनुराग करना यह सल्लेखनामरण करने वालेका दोष है संसारमें,

अनन्त जीव है। सभी जीव चैतन्यस्वरूप एकसमान हैं, उनमें कौन तो मित्र है और कौन शत्रु है ? अब यह मरणका समय है। मरनेके समय किन्हींको मित्र समझकर उनमें अनुराग करनेसे सार क्या निकलेगा ? थोड़े ही समयमें मृत्यु होने वाली है। मित्रोंकी याद करके तो वह कर्मबन्ध करना पड़ता है और उससे उसका परलोक बिगड़ता है। तो यह तीसरा दोष भी ज्ञानी जीव अपनेमें नहीं लाता। चौथा अतिचार है सुखका स्मरण करना। जो सुख पहिले भोगा गया, उसका स्मरण करना, धन वैभव स्त्री पुत्रादिकके सुख जो जो भी सुख भोगे उनकी याद करे तो उन सुखोंकी याद करनेसे लाभ क्या ? उस समय तो समस्त संकल्प विकल्प छोड़कर एक समता परिणाममें रहे तो लाभ है। तो यह चौथा दोष है पूर्वकालमें भोगे हुए सुखोंकी याद रखना। सल्लेखनाव्रतका अन्तिम दोष कह रहे हैं निदान। मैं अगले भवमें इन्द्र बनूं, राजा बनूं, सेठ बनूं, इस प्रकारके भावी कालके भोगोंकी इच्छाके निदान बांधना, यह निदान नामका ५ वां दोष है। जो सल्लेखनाव्रत ग्रहण करता है वह इन ५ प्रकारके दोषोंको नहीं लगाता। उसका तो यत्न रहता है कि मैं अपने सहज शुद्ध चिदानन्दस्वरूप पर दृष्टि दिये रहूं और अपना जो वास्तविक शरण है, एकमात्र शरण है, उस शरणमें ही उपयोग रखूं, अन्यत्र उपयोग न दूं—ऐसी स्थितिमें समय व्यतीत हो, उसका यही प्रयत्न रहता है। यों सल्लेखनामरण करके यह श्रावक सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो जाता है और श्रेष्ठ गति पाता है।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

निरतिचार व्रतपालनसे पुरुषार्थसिद्धिकी पात्रता—इस प्रकार यह गृहस्थ पहिले बताये गये समस्त अतिचारोंको, और और दोषोंको विचार करके छोड़ता है और निर्मलसम्यक्त्व निर्मलव्रत निर्मलशीलोके पालनके द्वारा यह थोड़े ही समयमें मोक्षको प्राप्त करता है। यद्यपि श्रावक साक्षात मोक्षपद प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसके कुछ आरम्भ परिग्रह या वासना कषायें इस प्रकार की हैं कि जिनसे शुक्लध्यान नहीं बन सकता और बिना शुक्लध्यान के मोक्षकी प्राप्ति नहीं है। शुक्लध्यान मायने सफेद ध्यान अर्थात् जहाँ रागद्वेषके रंगसे रहित स्वच्छ वीतरागता हो। इस शुक्लध्यानके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव श्रावक साक्षात् मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, पर वह अपना मोक्षमार्ग बना लेता है, फिर उसी भवमें या दूसरे तीसरे भवमें मुनिव्रत धारण करके पूर्ण रत्नत्रयकी एकता पाकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, पुरुषार्थसिद्धिको प्राप्त हो जाता है। पुरुष मायने आत्मा, उसके अर्थ अर्थात् उसका प्रयोजन, उसकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। आत्माका प्रयोजन है सुख, निराकुलता। निराकुलता मोक्षमें है, इसलिए आत्माका हित मोक्ष ही है। ऐसे आत्माका हित जो मोक्ष है उसकी सिद्धिको श्रावक प्राप्त करता है। अब सकल चारित्रका वर्णन करते हैं।

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

यथाशक्ति तपके आचरणका उपदेश—जैनसिद्धान्तमें तपको चारित्रका अन्तवर्ती बताया है अर्थात् चारित्रमें शामिल तप भी है और तप मोक्षका अंग कहा गया है। यद्यपि तपश्चरण पर पूर्ण अधिकार साधुजन कर पाते हैं, फिर भी श्रावकजनोंके अपनी शक्तिके अनुसार इस तपश्चरणको स्वीकार करना चाहिए। ये तपश्चरण बारह प्रकारके हैं, जिन्हें आगे बतावेंगे। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप होता है और तप भी चारित्रका ही एक अंग है, इसलिए तप भी मोक्षका अंग ठहरा। तपश्चरण करनेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है। एक है शरीरकी और दूसरी है मनकी। मन वशीभूत हो और शक्ति हो तो तपश्चरणका पालन होता है। शक्ति भी प्रायः होती है मनुष्योंमें, पर उस शक्ति को छिपाकर रखते हैं और कोई शक्तिको न छिपाकर अपनी शक्तिके अनुसार अपने कर्तव्यमें उद्यमी रहनेका यत्न करते हैं। जैसे यहीं लौकिक कार्योंमें, आने जाने व्यापार आदिक कार्योंमें कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं कि शरीर सबल नहीं है, साधारण है, फिर भी मेहनत बहुत कर लेते हैं, इस सामर्थ्यका वे पूरा

उपयोग करते हैं और कोई पहलवान भी हैं, समर्थ भी हैं, मगर शक्तिको छिपाते हैं, उन्हें कार्यमें सफलता संदेह बना रहता है, ऐसे लोग शक्तिका सही उपयोग करनेकी बात हो। दूसरे मन वशीभूत हो। यदि तप अंगीकार कर लें और फिर भी मन वश न रहे अर्थात् इच्छा बनी रहे तो जहाँ इच्छा है, वहां तप कैसे रह सकता है? इच्छा न बढ़े, मन वशमें रहे, विषयोंमें आसक्ति न हो तो उससे तपश्चरण बन सकता है। श्रावकजनोंको आचार्य महाराज उपदेश कर रहे हैं कि इस तपको अपनी शक्तिके अनुसार पालन करना चाहिए। वह तप कौन है? वे तप हैं १२, जिनमें ६ बाह्य और ६ अन्तरङ्ग तप हैं। उनमें से ६ बाह्यतपोंका वर्णन करते हैं।

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रस त्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमेतदपि ।।१९८।।

अनशन व अवमौदर्य नामक तप—बाह्यतप उसे कहते हैं कि जो बाहरमें लोगोंको नजर आ सकें कि हाँ ये तपश्चरण कर रहे हैं कि जहां अन्तरङ्ग परिणामोंकी प्रमुखता नहीं है। ऐसे बाह्यतप ६ होते हैं। प्रथम है अनशन। बाह्य पदार्थोंके संयोग वियोगसे यह तपश्चरण चलता है, इसलिए इसे बाह्यतप कहते हैं। भोजनका त्याग करना सो अनशन है। ४ प्रकारके आहार होते हैं—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय। खाद्य मायने जो पेटभर भोजन किया जाये वह खाद्य भोजन है, जैसे रोटी, दाल वगैरह। स्वाद्य भोजन वह है जिसमें स्वाद लिया जाए, जैसे पान। लेह्य भोजन वह है जिसको चाटा जाये, जैसे रबड़ी। पेय भोजन वह है जो पिया जाये, जैसे दूध। तो इन चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसे कहते हैं अनशन। अनशनतपमें शरीर हल्का रहता है और आहार न करनेका संकल्प लिया है तो उस अनशनके कारण धर्मकी ओर बुद्धि अधिक रहती है। ऐसी स्थितिमें यह एक योगका साधन है अनशन। वहाँ ध्यानकी साधना अच्छी बनती है। अनुभूति भी जगती है। संकल्प विकल्प हटकर निर्विकल्प स्थिति का भी इसमें यत्न बनता है। अनशन एक तपश्चरण है। समय समय पर, पर्वों पर और विशेष विशेष अवसरों पर अनशन ग्रहण करना चाहिए, पर अनशन धारण करके गृहस्थीके बीच रहना, दुकान पर रहना, मोहियोंकी उठक बैठक रहना, यह त्याज्य है। एकांतमें गुरुसंगतिमें रहकर धर्मध्यानमें अपना समय व्यतीत करना बताया है। तो आहारके परित्यागका नाम अनशन है। दूसरा तपश्चरण है औमोदर्य। भूखसे कम खानेका नाम औमोदर्य है। यह भी क्या कोई कम तपश्चरण है। लोग तो जब तक पेट खूब भर न जाए, तब तक खाना बन्द नहीं करना चाहते, पर जो इस तपश्चरणको करते हैं, उन्हें इससे बड़ा लाभ है। भूखसे कम खानेमें प्रमाद नहीं रहता, सावधानी रहती है, ध्यानसिद्धिकी बात बनती है और ब्रह्मचर्यसिद्धिका भी साधन है। यों औमोदर्य दूसरा तप है।

विविक्तशय्यासन तप—तीसरा तप है विविक्तशय्यासन। एकान्तस्थानमें रहना, बैठना, सोना यह विविक्तशय्यासन तप है, क्योंकि मनुष्योंसे सम्बन्ध रहेगा तो वहाँ बातचीत करनी होगी। जब वाक्व्यवहार होगा तो स्नेह बढ़ेगा। जब स्नेह बढ़ेगा तो लोगोंका बंधन बन जायेगा। बंधन बने वही दुःख है। जितना भी दुःख है वह सब स्नेहके बंधनका दुःख है। इस समय हम आपके दुःख कितने हैं? पर कुछ पुण्यका साधन पाया है और पुण्यके अनुसार सब चीजें मिलती हैं तो उस पर दृष्टि नहीं देती है, पर विडम्बना लगी हुई है। शरीरके साथ क्षुधा तृषाकी वेदना ऐसी लगी है कि रोज-रोज खाते पीते, दिनमें दो तीन बार खाते पीते, तो क्या यह कम विडम्बना है? मानो पुण्यके अनुसार सब कुछ खूब मिल रहा है, वैभव मिल रहा है, रोज भोजन तैयार मिलता है, जैसा मन चाहे वैसा खाते पीते हैं, बड़ा मौज है, किन्तु यह भव कब तक रहेगा? इस भवके बाद इस आसक्तिके फलमें कष्ट मिलेगा। आज तो मनुष्य हैं, आध सेर भोजनसे ही तृप्त हो जाते हैं। कलके दिन हाथी घोड़ा आदिक हो गये तो फिर कैसे समय व्यतीत होगा। दुःख लगे हैं इस जीवके साथ, मगर यह मोहमें पुण्यका उदय पाकर अपने आपकी सुधि खो बैठता और जो दुःख है उसे दुःखरूप न मालूम करके उस वेदनाकी पूर्तिमें मौज मानता है। इस जीव के साथ दुःख बहुत लगे हैं। उनसे छुटकारा पानेके लिये राग द्वेष मोहके त्यागरूप तपश्चरण करनेकी आवश्यकता है, न कि मन मौजसे रहनेकी

आवश्यकता है। तो यह ज्ञानी जीव विविक्तशय्यासन तपको धारण करता है। एकान्त स्थानमें रहना, सोना बैठना, ग्रन्थ पढ़ना, उनका मर्म समझना, इनमें अपना समय व्यतीत करता है। यह तीसरा है विविक्तशय्यासन नामका तप।

रसपरित्याग तप—चौथा तप है रसपरित्याग। दूध, दही, घी, तेल, मीठा, नमक—इन रसोंमें एक दो अथवा सबका परित्याग करना सो रसपरित्याग है। यह रस कोई थोड़ी मात्रामें स्वास्थ्यवर्द्धक होता है, कुछ विशेष मात्रा करने पर फिर कामवर्द्धक अनेक बार अवगुणवर्द्धक हो जाता है। तो इन रसोंमें से कुछ का अथवा सबका जो परित्याग करता है, वह अपने अहिंसाव्रतकी सिद्धि करता है। यह तपश्चरण भी अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिए है। अहिंसा नाम है निर्विकल्प अवस्था होनेका। इस निर्विकल्प अवस्थाके लिये ही ये सब तपश्चरण किये जा रहे हैं। ५वां बाह्य तप है काय क्लेश। गर्म स्थानमें, सर्द स्थानमें ध्यान करते बैठना, अनेक प्रकारके कष्ट सहना—ये सब उस निर्विकल्प दशाकी प्राप्तिके लिये हैं। कदाचित्त पापका उदय आये और कभी क्लेश आए तो उसमें मैं कहीं विचलित न हो जाऊं, इसलिए काय क्लेश सहनेका अभ्यास जान करके भी किया जाता है। जान बूझकर कष्ट देना सो काय-क्लेश है। इसमें भी अहिंसाकी सिद्धिका लक्ष्य है। कहीं कोई कठिन क्लेश आ जाने पर रागभावमें हमारा परिणमन न चला जाये, इस कारण से वह काय क्लेश सह रहा है। तो लक्ष्य तो अहिंसा की सिद्धि का ही रहता है।

कायक्लेश व वृत्तिपरिसंख्या तप—यह ५वां तप है कायक्लेश। छठा तप है वृत्तिपरिसंख्यान भोजन को जाते समय मुनि लोग कुछ आखड़ी लेकर निकलते हैं उसका प्रयोजन यह है कि आहार उन्हें सुगमता से न चाहिए, आहार मुश्किलसे प्राप्त हो, इसलिये अपनी अटपटी आखड़ी लिया करते हैं। दूसरी बात यह है कि वृत्तिपरिसंख्यान करके भी मुनिराज अपने व्रतकी परीक्षा करते हैं कि मेरे कर्म अब किस किस प्रकारके रह गये होंगे। वृत्तिपरिसंख्यानमें ऐसा नियम लेते कि इस गलीसे चर्याको जायेंगे और इस गली से निकलकर जंगल चले जायेंगे, इस बीचमें अगर आहार हुआ तो आहार ग्रहण करेंगे। एक साधुने तो ऐसी आखड़ी ली कि बैलकी सींगमें गुड़की भिदी हुई भेली दिख जायेगी तो आहार लेंगे। भला बताओ ऐसा कौन अन्दाज कर सकता है कि ऐसी आखड़ी ली होगी, पर एक दो दिन अनशनमें गये हों तो क्या हुआ ? विधि क्या मिली कि एक बैल बाजारसे चला जा रहा था। गुड़की भेली एक दूकान पर रखी थीं। वह भेली खाने लगा। दूकानदारने उसे भगानेकी कोशिश की। ज्यों ही वह बैल भागने लगा कि उसके सींगमें एक भेली बिंध गई। सामनेसे निकले मुनिराज। लो उनका वृत्तिपरिसंख्यान पूरा हो गया। तो ऐसी आखड़ी ले लेना यह वृत्तिपरिसंख्यान तप है। इससे रागादिक भावोंपर विजय होती है। इस तरह का तप अहिंसाका कारण है। इससे कर्मोंका क्षय होता है, ध्यानकी प्राप्ति होती है। विष्प्रमाद रहता है, शरीरके दोष दूर होते हैं। तपश्चरण से किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं। तपश्चरण करनेसे ब्रह्मचर्यका पालन होता है। ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये दो साधुके खास तत्त्व हैं। ब्रह्मचर्य न रहा तो तपश्चरण सारा व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य साधारण जीवनका और आध्यात्मिक जीवनका सार है। ब्रह्मचर्यके घातमें उसकी परदृष्टि बनी हुई है, आत्माकी सुध नहीं रहती है। ब्रह्मचर्यको तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए। बहुत-बहुत बार भरपेट भोजन खानेसे ऐसा प्रमाद आता है कि धर्मध्यानका चित्त नहीं चाहता।

तपश्चरणकी उपयोगिता—तपश्चरणसे ध्यान और अध्ययन दोनोंकी सिद्धि है। इस तपश्चरणसे इन्द्रियों का दमन होता है। इन इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके कारण ही तो इस जीवकी बरबादी हो रही है। हम इन्द्रियों द्वारा ही जान पाते हैं, क्योंकि इस समय हमारे परोक्ष ज्ञान है। जब हम इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान कर पाते हैं और ज्ञान है हमें अभीष्ट। तो जो हमारा परम अभीष्ट है उस ज्ञानका जो साधन है, उसमें हमारी प्रीति जगती है। इसलिए इन्द्रियसे प्रीति जग जाना यह हमारे स्वभावतः हो रहा है। यदि इन्द्रियोंमें प्रीति है तो इन्द्रियके विषयमें प्रीति जगनेसे विशेष मोहनीय कर्मका उदय होता है। मोहनीय कर्मके उदयसे यह सारा संसार चल रहा है। संसारभ्रमणसे ही तो इस

जीवकी बरबादी है। तो तपश्चरणके प्रतापसे इन्द्रियका दमन हुआ और इन्द्रियके दमन से अपने आपके स्वभावमें उपयोग जमता है और स्वभावकी दृष्टि बने, यही मात्र आत्मकल्याणका उपाय है। करना क्या है धर्मपालनके लिए ? अपने इस उपयोगको अपने स्वभावकी ओर ले जायें, ऐसा चिंतन करें कि मैं मात्र ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला हूं, केवल ज्ञानमय हूं, केवल ज्ञानप्रकाश हूं, अपने ऐसे उपयोग में रह सकें, ऐसी स्थिति बने तो यही तो आत्मानुभव है और यही धर्मपालन है। यह किया जा सका तो समझो कि मैंने सब कुछ कर लिया। परमार्थतपश्चरण यही है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं—ऐसा उपयोग अपना बन जाये। इस तपश्चरणका ऐसा प्रताप है कि भव भवके बाँधे हुए कर्म स्वयं क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि कर्म बंधे हैं स्नेहसे। जैसे शरीरमें तेल लगा हो, स्नेह लगा हो तो शरीरमें धूल चिपट जाती है। इसी प्रकार आत्मामें मोह रागद्वेषकी चिकनाई हो तो ये कर्म बंध जाते हैं। कर्म बंध तो गए, पर उनके दूर करने का उपाय क्या है ? तो कर्मों के दूर करनेका उपाय है कि इस रागद्वेष मोहकी चिकनाईको खत्म कर देना है। राग द्वेष मोहके परिणाम को अलग कर देनेसे अपना जो सहज आनन्दस्वभावी चैतन्यमात्र आत्मा है उसके दर्शन होंगे। उस आत्माका किसी भी अन्यसे कुछ भी सम्बंध नहीं है। वह तो विशुद्ध है, सर्वदा ज्ञाताद्रष्टा रहता है। तो अहिंसा की सिद्धि इसी तपश्चरणसे है। इस तपश्चरणको करते हुए अन्तरङ्गमें क्या अध्ययन करते रहना कि मैं अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवता रहूं और जिस किसी भी क्षण कोई भी विकल्प न रहेगी, ज्ञानानुभवकी स्थिति बन जायेगी तो वही आत्मानुभूति है। उसमें इतनी विविक्त सामर्थ्य है कि कर्मोंसे नोकर्मों को सबको अलग करनेमें यह आत्मानुभूति ही एकमात्र कारण बनती है। बड़े बड़े शुक्लध्यानोंमें इतनी ही तो विशेषता है। तो हमारा तपश्चरणमें उपयोग जाये और परमार्थ तपका लक्ष्य न भूलें तो हम अहिंमाव्रतकी सिद्धिमें अपनेको समर्थ कर सकते हैं।

विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यान भवत्ति विषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिनि ॥१९९॥

विनय नामक अनतरङ्ग तप—बारह प्रकारके तपश्चरण साधुवोंके मुख्य कर्तव्य हैं, किन्तु यथाशक्ति श्रावकोंको भी करना चाहिए। इस प्रसङ्गमें अन्तरङ्ग ६ तपोंका वर्णन इस गाथामें चल रहा है। अन्तरंग तप उसे कहते हैं जो दूसरोंको न दिखे, किन्तु अपने अन्तरंग भावोंके अनुसार हो। वे तप ६ हैं—विनय, वैयावृत्ति, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान। विनय नाम है आदर भावका। विनय दो तरहके होते हैं—एक मुख्य विनय, एक उपचार विनय। याने मुख्यतासे हमें किनमें विनय करना चाहिए ? आत्महित के लिए सम्यक्त्वमें भी बाधा न पड़े, सम्यक्त्व ज्ञान चारित्रकी वांछा बने। यही है मुख्य विनय और मोक्षमार्गसे सम्बन्ध नहीं है, पर व्यवहारमें रहते हैं तो व्यवहारमें हम दूसरोंसे विनय कर लें, उसे कहते हैं उपचार विनय। तो मुख्य विनय तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विनय है और इनके धारकोंका विनय है। जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं उनके हृदयका सम्मान करना, उनके सम्यक्त्वगुणका स्वरूप विचार कर उन गुणोंको निरख निरखकर प्रफुल्लित होकर उस आत्माका विनय करना सो सम्यक्त्वके धारियोंका विनय है। सम्यक्त्वके धारियोंका भी विनय करना और सम्यग्दर्शनका ज्ञान करना, ज्ञानका भी विनय करना और ज्ञानके धारियोंका भी विनय करना। सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रकाश है जिसके द्वारा जीव शांतिमें पहुंच जाता है। वह सम्यग्ज्ञान हृदयमें बसे और उसके प्रति साधुवाद, जयवाद जैसा शब्द निकले। धन्य है यह सम्यग्ज्ञान गुण, जिसके द्वारा यह जीव मोक्षको प्राप्त करता है। जहाँ आत्माके स्वरूपका दर्शन है, सब द्रव्योंसे न्यारा जो आत्मा का चैतन्यतत्त्व है, उसका जहाँ अनुभवन होता है ऐसे सम्यक्त्वको बड़े जयवादके साथ ज्ञानी पुरुष देखते हैं। ऐसा सम्यक्त्वगुण जिसके प्रकट होता है, ज्ञानी पुरुष उसका महान् आदर करता है। अज्ञानी जीव सम्यक्चारित्र विनयको धारण नहीं कर सकता। लोकमें मुख्यतासे देखो तो चारित्र पूज्य है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होनेके बाद जब तक सम्यक्चारित्र नहीं होता, तब तक निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। उस सम्यक्चारित्रकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी आ गये। तो जो सम्यक्चारित्रके धारी हैं, शांत हैं, समताके पुञ्ज हैं, केवल आत्माके दर्शनमें ही जिनकी धुन है—

ऐसे जो एक मोक्षमार्गके पथिक हैं, ऐसे साधुजनोंका विनय करना और सम्यक्चारित्रके प्रति आदर भाव करना सो सम्यक्चारित्र विनय है। इसी प्रकार एक है तपोविनय। तपश्चरणके प्रति आदरभाव करना सो तपोविनय है। ये ४ मुख्य विनय हैं और उन गुणधारियोंके प्रति आदर भाव होना सो उपचार विनय है। वे चार गुण आत्माके गुण हैं, अपने गुण हैं। उन पर दृष्टि जाती है तो हम अपने आपकी दृष्टि बना रहे हैं, इसलिए वह निश्चय गुणमें शामिल हो गया। इन गुणोंके धारी जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे पर आत्मा हैं, भिन्न हैं। सो परवस्तुकी दृष्टि करके विनयभाव होता, इसलिए यह उपचारविनय अथवा व्यवहारविनय है। दूसरी दृष्टिसे मुख्यविनय हुआ आत्मगुणोंको धारक और आत्मगुणोंका विनय और अपने व्यवहार में आये हुए साधर्मीजनोंका अथवा राजकाज, गृहस्थकाज। जो अधिकारियों का उस सीमा विनय किया जाता है, वह उपचारविनय हुआ। यह उपचारविनय मोक्षका मार्ग नहीं है, क्योंकि उसमें सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टिका भेद न करके उपचारविनय हुआ। चाहे सम्यग्दृष्टि हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे चारित्रमान हो, चाहे न हो, चूंकि वह एक नगरका है, राजकाजमें रहता है अथवा अपने गाँवमें बसने वाला है, अपने सङ्गमें आता है, वह भी नमस्कार करता है और खुद भी उनका विनय करता है तो यह मोक्ष मार्ग नहीं है। मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इनका विनय मोक्षमार्गमें विनय बताया है। तो विनयका सम्बन्ध अन्तरंग से है। अपना अन्तरंग परिणाम बनाना विनयभाव है।

वैयावृत्य और प्रायश्चित्त नामक अन्तरङ्ग तप—दूसरा अन्तरङ्ग तप है वैयावृत्ति। वैयावृत्ति पूज्य पुरुषोंकी सेवा करनेका नाम है। वैसे वैयावृत्तिका अर्थ है निवृत्ति। उदासीन विरक्त पुरुषोंके भावका नाम है वैयावृत्ति। वैयावृत्तिके दो भेद हैं—एक शरीर चेष्टा द्वारा वैयावृत्ति करना और एक दान करके वैयावृत्ति करना। धर्मात्मा पुरुष ही इस वैयावृत्तिको कर सकेंगे। इन दोनों प्रकारकी वैयावृत्तियोंका बड़ा महत्त्व है। पुरुष लोग तो शारीरिक वैयावृत्ति कर लेते हैं और महिलायें आहार दान करके वैयावृत्ति कर लेती हैं। इन दोनोंका एकसा महत्त्व है। आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान देकर जो साधु पुरुषोंकी वैयावृत्ति की जाती है वह शारीरिक वैयावृत्तिसे भी बढ़कर है। इस प्रकारकी साधुजनोंकी वैयावृत्ति करनेका भाव भी एक अन्तरङ्ग तप है। अन्तरङ्गमें ऐसा उत्तम भाव आये बिना ऐसी वैयावृत्ति करने को कोई उद्यमी नहीं हो सकता। दूसरा अन्तरङ्ग तप है प्रायश्चित्त। कोई अपनेमें दोष लगे तो उन गुरुजनोंके समक्ष पश्चाताप ग्रहण करना प्रायश्चित्त तप है। यह तप भी एक अन्तरङ्ग तप है। अन्तरङ्गमें बिना निर्मल परिणाम बने गुरुजनोंके समक्ष प्रायश्चित्त लेनेकी बात मनमें नहीं आती। परिणामोंमें जब यह निर्मलता जगती है कि अहो ! मैंने कितना बड़ा अपराध किया ? धिक्कार है मेरे मनको। यों एक रोनासा आ जाये, एक बड़ी भारी भूल अपनेमें महसूस हो, तब प्रायश्चित्त लेनेकी बात मनमें आती है। इस तरहसे उस प्रायश्चित्तका ग्रहण करना यह अन्तरङ्ग तप है।

उत्सर्ग, स्वाध्याय व ध्यान नामक अन्तरङ्ग तप—एक तप है उत्सर्ग याने त्याग करना। बाह्यमें इन धन धान्य आदिक परिग्रहोंका त्याग करना और अन्तरङ्गमें अहंकार ममकाररूप बुद्धिका त्याग करना इसका नाम है उत्सर्ग। यह उत्सर्ग भी अन्तरङ्ग भावसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि त्याग करना तो भावोंका त्याग करनेको कहते हैं। बाहरमें कोई चीज छोड़ दी, पर उसकी चाह बनी रहे तो वह त्याग न कहलायेगा। तो त्याग भी अन्तरंग तप है। अन्तरंगमें ममता छूटी हो, उपेक्षा जगी हो वह तप कहलायेगा। एक तप बताया है स्वाध्याय। स्व मायने आत्मा और अध्याय मायने अध्ययन करना। आत्माका अध्ययन करना, ध्यान करना इसका नाम स्वाध्याय है। अपने आपके ज्ञानकी प्रभावना करनेके लिये आवरण रहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैनशास्त्रोंका पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, बांचना, सुनना—ये सब स्वाध्याय हैं। जैसे किसीके स्वाध्यायका नियम है और आकर झट साढ़े तीन लाइन पढ़कर चले गये तो यह स्वाध्याय नहीं कहलाता। स्वाध्याय है आत्माका अध्ययन करना, खुदका अध्ययन करना। स्वाध्यायके ५ भेद बताये हैं। पहला बांचना। ग्रन्थ रखकर उसे पढ़ना और साधारण अर्थ भी जानते जाना

इसका नाम है बांचना। इस बांचनेमें भी बराबर उसका अर्थ मनमें आते रहना चाहिये, समझ बनते रहना चाहिये, जो कुछ भी बुद्धि हो उसके अनुसार अर्थ भासता जाये तो वह बाँचनेका स्वाध्याय है और प्रत्येक स्वाध्याय इस पद्धति से करते रहना चाहिये कि जिससे अपने आत्महितपर दृष्टि पहुंचे। जैसे बांचनेमें आया कि स्वयंभूरमण समुद्र इतना बड़ा, जीवोंके शरीर इतने इतने बड़े हैं, इस इस तरहके विचित्र शरीर हैं, ७वें नरकमें ऐसे ऐसे नारकी हैं, यों नाना प्रकारकी बातें पढ़कर चित्तमें यह आना चाहिये कि देखो इस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बिना जीवकी ऐसी हालत हो रही है। इस प्रकारसे जन्म मरण करना पड़ रहा है। एक आत्मज्ञानके बिना इस जीवको कितनी विडम्बनायें रही हैं? इस प्रकारका चिन्तन करना स्वाध्याय है। दूसरा स्वाध्याय है प्रच्छना। अपनेको किसी तत्त्वमें शङ्का हो या जानकारी न हो अथवा कुछ समझ रखा हो, उसकी दृढ़ता करनी हो तो उसकी जानकारी करनेके लिये नम्रतापूर्वक गुरुजनोंसे अथवा किसी विद्वानसे पूछना, सो पूछना प्रच्छना नामक स्वाध्याय है। यदि कोई अहंकारी बनकर कठोरतापूर्वक किसीसे पूछता है या उन गुरुजनों अथवा विद्वानोंकी परीक्षा करनेके लिये कोई पूछता है तो वह प्रच्छना नाम का स्वाध्याय नहीं है।

तीसरा स्वाध्याय है स्वाध्याय है अनुप्रेच्छा। कोई जानकारी कर ली तो उसका बार बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेच्छा नामक स्वाध्याय है। जैसे बारह भावनावोंका ज्ञान किया तो बराबर उनका चिन्तवन करना, अपने आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान किया तो बार बार उसका चिन्तवन करना सो अनुप्रेच्छा नामक स्वाध्याय है। चौथे स्वाध्यायका नाम है आम्नाय। विद्यार्थीकी भांति किसी गुरुके पास पढ़ना सो आम्नाय नामक स्वाध्याय है। ५ वें स्वाध्यायका नाम है धर्मोपदेश। धर्मकी बातोंका उपदेश करना, जैसे शास्त्र सभायें होती हैं, प्रवचन किये जाते हैं तो वह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है। इसे स्वाध्यायमें भी स्वका अध्ययन होना चाहिये। धर्मोपदेश सुनने वाला और सुनाने वाला—ये दोनों स्वाध्याय कर रहे हैं। इस प्रकार ५ प्रकारके स्वाध्याय हैं। छठा तप है ध्यान। चित्तको विशुद्ध तत्त्वकी ओर लगाना सो ध्यान है। ये ६ अन्तरंग तप कहे जाते हैं।

अन्तरङ्ग तपश्चरणसे लाभ—अन्तरंग तप करनेसे आत्माको क्या क्या लाभ प्राप्त होते हैं? विनयादिक अन्तरंग तप करनेसे पहिला लाभ तो यह है कि अन्तरंग तप करनेसे मान कषाय नष्ट हो जाती है। जिसके मान कषाय है वह न चिन्तन कर सकता, न वैयावृत्ति कर सकता, न प्रायश्चित कर सकता। तो अन्तरंग तप करने से मान कषाय दूर हो जाती है। दूसरा लाभ यह है कि ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धि हो जाती है। व्यवहारकी शिक्षा को भी विनयपूर्वक कोई ग्रहण करता है तो उसको जल्दी वह विद्या याद हो जाती है। फिर मोक्षके सम्बन्धकी जो विद्या है, ज्ञानादिक गुण हैं उनका विकास तो विनयके बिना असम्भव है। आत्म विनय करे, धर्मात्मावोंका विनय करे, तब मोक्ष सम्बन्धी विद्याकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार वैयावृत्ति, प्रायश्चित्त, त्याग—ये सब ज्ञानादिक गुणों की वृद्धिमें सहायक हैं। तीसरी बात यह है कि अन्तरंग तपके करनेसे गुणोंमें बड़ा अनुराग प्रकट होता है। चौथा लाभ यह है कि इस अन्तरंग तप के करनेसे व्रतसिद्धि होती है। जो चारित्र धारण किया है उसमें बड़ी विशुद्धि बढ़ती है। कोई पुरुष अन्तरंग भावसे तो चारित्र ग्रहण न करे, अन्तरंग विनय आदिक न रखे, बाहरमें भी कठोर है, वह चारित्र ग्रहण किये है तो उसका वह चारित्र नहीं है। जिसके अन्तरंग तप नहीं हैं, अन्तरंग विनय नहीं है, अपने आत्माके अन्तःस्वरूपकी दृष्टि नहीं है उसका चारित्र चारित्र ही नहीं है। वह तो एक भूल है। तो अन्तरंग तपश्चरण के करनेसे व्रत आदिककी सिद्धि हो जाती है। ५ वां लाभ है कि इस अन्तरंग तपके प्रतापसे आत्मा निःशल्य हो जाता है। छठा लाभ यह है कि अन्तरंग तपके प्रतापसे निरन्तर परिणामोंमें उज्ज्वलता रहती है। परिणामोंकी गन्दगी उसके आती है जो स्वच्छन्द होकर अपराधों पर अपराध करता रहता है। त्यागका जहाँ नाम नहीं है और स्वाध्याय से दूर बना रहता है—ऐसे पुरुषका परिणाम उज्ज्वल कहाँसे रहे? जो इस प्रकारके अन्तरंग, ५ प्रकारके तपश्चरण करता है उसका परिणाम भी उज्ज्वल होता है। इसके बाद लाभ यह है कि सम्वेग परिणाम बढ़ता रहता है। सम्वेग

का अर्थ है धर्ममें अनुराग होना या संसार शरीर और भोग—इन तीनोंसे वैराग्य होना और आखिरी लाभ यह भी समझिये कि बाह्य अन्तरंग तपश्चरणके प्रतापसे मन वश हो जाता है, अनाकुलताकी प्राप्ति हो जाती है। जिसके प्रतापसे आत्माका जो परम सहज स्वभाव है, आनन्द है उसमें मग्न हो जाता है। तो इन विनय आदिक अन्तरंग तपश्चरणके प्रतापसे यह जीव संसारके दुःखोंसे हटकर मोक्षके सुखको प्राप्त होता है।

तपश्चरणके वर्णनसे अपने लिये शिक्षाका ग्रहण—इस तपश्चरणके कथनोंको सुनकर हमें अपने आपके हितके लिये कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। प्रथम तो यह कि हम अपना परिणाम विनयपूर्ण रखें। विनयमें बहिरंग विनय और अन्तरंग विनय—ये दोनों बातें आती हैं, जिनमें मुख्य अन्तरंग विनय है। अपना परिणाम अपने हितके लिये बनाये रहें, अपने हितकी दृष्टिसे निर्णय बनाया करें तो यह अन्तरंग विनय है। विनयका अर्थ ही यह है कि जो विशिष्ट पदमें ले जाये। विनयके प्रतापसे यह जीव नियमसे ऊपरकी स्थितिको प्राप्त होता है। विशेष ज्ञानी बने, चारित्रवान बने वैभववान बने। यों विनयके प्रताप से जीव उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त होता है। चाहे कोई गृहस्थ विनय करके भी धनी न बन सके, पर वह विनय करके जनताका प्यारा तो हो गया। कदाचित् उसके ऊपर कोई कष्ट आये तो बीसों लोग उसकी सहायता करनेको तैयार हो जाते हैं। तो यह भी एक उत्कृष्टता उसने पायी। विनयके अभावमें होगा अहंकार। अहंकारी पुरुष अहंकार करके लाभ क्या पाता है? डण्डे भी खायेगा, लोगोंकी निगाहसे भी गिर जावेगा। व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि विनयगुणके कारण अपने साथी सैकड़ों बन जाते हैं। तो हम अपने जीवनमें विनयका परिणाम बनाये रखें—ऐसी कोशिश करनी चाहिए, ऐसा अपना ज्ञान बनाना चाहिये। बड़ा पुरुष तो वह है कि प्रतिकूल अवसर आने पर भी अपनेको शान्त और क्षोभरहित बनाये रखे—ऐसी उसकी दृष्टि रहती है और योग्य अयोग्य काम करनेका विवेक भी रहता है। तो हम अपना जीवन विनयसहित बितायें।

एक लाभ तो हम अपने मनुष्य जीवनका विनयसे उठायें। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि हम दूसरोंका उपकार करें, शरीरसे दूसरोंकी सेवा करें, और और प्रकारसे दूसरोंकी सहायता करें, दीन दुखियोंकी मदद करें। दीन दुखियोंकी मदद करनेसे अपने आपके कर्मफलके चिंतनकी बात बनती है। अपनेमें यह भाव बनता है कि यदि हम भी धर्मबुद्धिसे न रहें तो हमको भी यही दशा प्राप्त होगी। सबसे बड़ा लक्ष्य यह है कि दूसरोंका उपकार करते समय विषयोंकी ओर अथवा गंदे परिणाम नहीं रहते। पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आसक्तिका परिणाम नहीं रहता है। तो आत्मलाभ परोपकारमें भी खासा है। तो हम अपनेमें दूसरोंका अपनी शक्ति माफिक उपकार करते रहें। तीसरी बात—अपने मनमें यह निर्णय बनायें कि जितने भी आनन्द मिलते हैं, वे त्यागसे मिलते हैं ग्रहणसे नहीं। इसके मर्म को निरखकर यह समझें कि हमको जितना भी आनन्द मिलता है वह त्यागसे मिलता है ग्रहणसे नहीं। हाँ ग्रहण करके कुछ मौज मान ले वह बात और है, पर शान्ति लाभ प्राप्त करनेके लिये त्यागकी आवश्यकता है। जहाँ सब परका विकल्प हटाकर अपनी ओर अपने उपयोगको लगाया तो वहाँ वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति होती है और जब बाह्य पदार्थोंमें अपना उपयोग लगाते हैं तो वहाँ ही हम चितातुर हो जाते हैं। तो वास्तविक आनन्दका अनुभव त्यागसे होता है ग्रहणसे नहीं। ऐसा अपना निर्णय बनायें और त्यागसे हम अपनेको हानिमें न समझें, किन्तु अपनेको लाभमें ही समझें। एक साधारण शिक्षा यह है कि हम स्वाध्यायमें अपना अधिकसे अधिक समय लगायें, क्योंकि हमारा उपकार होगा तो इस स्वाध्यायसे ही होगा, तत्त्वज्ञानसे ही होगा। चाहे वह तत्त्वज्ञान स्वाध्यायसे मिले। तो हम अन्तरंग तपमें अपनी शक्तिके अनुसार बढ़ें और अपने इस दुर्लभ मनुष्य जीवनको सफल करें।

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
मुनिरूप्यं निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

बहिरङ्ग तपोंकी यथाशक्ति निषेव्यता—जितेन्द्रभगवानके सिद्धान्तमें महाव्रती साधुवोंका जो आचरण कहा गया है वह आचरण गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सेवन करना योग्य बताया है। अभी ऊपरमें बारह प्रकार

के तप मुनीश्वरोंके आचरण करने योग्य बताये हैं। वे बारहों तप गृहस्थोंको भी अपनी शक्ति माफिक करना योग्य है। उपवास कोई करे तो वह उसकी गु-वृद्धिके लिए हैं। ऊनोदर करे तो वह भी गुणवृद्धिके लिए है। अटपटी आखिड़ी गृहस्थ ले ले तो वह भी अच्छा ही है, क्योंकि जरा जरासी चीजों के खानेके लिये मन चाहता है। ऐसी आखड़ी ले लेनेसे वह सीधा दाल रोटी खाकर पेट भर लेगा। इन सबके करनेसे समता न भंग होनी चाहिये। कितने ही गृहस्थ तो ऐसे होते हैं कि यदि उनको किसी चीज के खाने पीनेकी इच्छा होती है तो वे झट उसका त्याग कर देते हैं। मानों पापड़ खानेकी इच्छा हुई तो वे ऐसा नियम कर लेते कि आज हमारा पापड़ खानेका त्याग है। तो कुछ लोग तो इच्छा निरोध वाले होते हैं और कुछ लोग इच्छाका आग्रह करने वाले होते हैं। आग्रह करने वालेको यदि किसी चीजके खानेकी इच्छा हुई तो उसे वह चीज खाये बिना चैन नहीं पड़ती। जब तक उसे वह चीज खानेको नहीं मिलती तब तक आफत मचा देता है। तो ऐसी मुनियोंकी क्रियायें गृहस्थोंको भी करना योग्य है। काया क्लेश भी गृहस्थोंको करना योग्य है और नहीं तो कमसे कम जानीबूझी सुकुमारता तो न रखनी चाहिये। जरा भी पैदल न चल सके, एक नखरे जैसी सुकुमारता तो गृहस्थोंको न करना चाहिए। समय पड़े तो पैदल भी चले, श्रम भी करे। जो लोग अपने जीवनमें उपवासभी करते हैं, और और प्रकारके शारीरिक कष्ट भी सहते हैं, उनके कभी कोई घटना भी घट जाए कि दो एक दिन खाने पीनेको कुछ भी न मिले और बड़े श्रमकी भी बात आ जाए तो वे घबड़ाते नहीं हैं और घबड़ा भी जायें तो झट अपने ज्ञानसे वे अपनेको कायम रख सकते हैं। तो ये ६ प्रकारके बाह्य तप गृहस्थ भी अपनी शक्तिके अनुसार कर सकते हैं।

अन्तरङ्ग तपकी यथायोग्य यथाशक्ति निषेव्यता—अन्तरंग तपकी भी बात सुनो। जैसे प्रायश्चित्त स्वयं न करें कि बात क्या है? कोई दोष लगे, कोई बात हो तो उसका प्रायश्चित्त गुरुवोंके समक्ष अथवा सुयोग्य पुरुषोंके द्वारा गृहस्थोंको भी कर लेना चाहिए। विनय तो सर्वसिद्धिका मूलमंत्र है। चाहे व्यवहार में कोई हो, चाहे मोक्षमार्गमें हो, जो विनयकी प्रवृत्ति रखेगा, उसके शरीरकी शोभा बढ़ेगी और आपत्ति भी न आयेगी। मोक्षमार्गमें यदि विनयकी प्रवृत्ति है तो वह सर्वत्र शान्तिका अनुभव होता रहेगा। देव, शास्त्र, गुरूके प्रति विनयभाव रखना श्रावकोंको अत्यन्त आवश्यक है। वैयावृत्ति सेवा यह तो गृहस्थ किया ही करते हैं। चार प्रकारका दान भक्तिपूर्वक देना यह भी उनकी सेवा है। भावपूर्वक उनसे नम्रतासे बोलना चाहिए। इस वचनव्यवहारसे उनका क्लेश मिट जाता है। तो गृहस्थ तन, मन, धनसे सेवा किया ही करते हैं। वैयावृत्ति मेरी सहीरूपसे बनी रहे, इसका भी कर्तव्य होना चाहिए। स्वाध्याय एक खास तप है। ज्ञानप्रकाश हुए बिना तो जीवन बेकार है। पशु पक्षियोंका जो जीवन है, सो ही उस मनुष्य का जीवन है। जिसके उपयोगमें ज्ञानप्रकाश नहीं है उस मनुष्यका जीवन क्या है? क्योंकि भेदविज्ञान बिना, सम्यग्ज्ञान पाये बिना जीवनमें बड़ा आराम भी भोग ले तो इतना ही फर्क रहा कि उन पशु पक्षियों से कुछ अधिक भोग भोग लिया। मगर जो काम पशु पक्षियोंने किया सो ही काम इस मनुष्यने किया। जैसे स्वाध्याय साधुवों का परम तप है ऐसे ही गृहस्थोंको भी यथाशक्ति यह तप करना चाहिए। इसी प्रकार कायोत्सर्ग तप है। उत्सर्ग तप क्या है? बाह्यपदार्थोंका त्याग करना, उनसे ममताका परित्याग करना और जो अपनेको मिला हुआ शरीर है, उसकी ममताका त्याग करना, रागादिक विभावोंकी अपनायतका त्याग करना, ये सब उत्सर्ग तप कहलाते हैं। यह तप साधुवोंको बताया गया, उनके लाभके लिए है। यह तप गृहस्थ भी करें तो उनके लाभके लिए है।

इदमावश्यकषटकं समतास्तववंदना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम् ॥२०१॥

यथाशक्ति आवश्यकोंकी करणीयता— अब ६ आवश्यक कर्तव्य हैं—समता परिणाम रखना, जिनेन्द्र देवका स्तवन व वंदना करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। ये ६ साधुवोंके आवश्यक कर्तव्य हैं और यही गृहस्थों के कर्तव्य हैं। गृहस्थ अपनी सीमामें करते हैं, साधु अपनी पदवीके अनुसार करते हैं। ये आवश्यक कर्तव्य ६ माने

गये हैं जीवमें। यों तो आवश्यक शब्दका अर्थ रुढ़िके अनुसार जरूरीसे लिया जाता है। यह आवश्यकका फलित अर्थ है। शब्दका फलित अर्थ है—शब्दार्थके अनुसार आवश्यकमें तीन शब्द हैं—अ, वश और क अर्थात् जो काम आदिक के वश न हो उसे अवश कहते हैं। जो पुरुष ममताके आधीन न हों, जो पुरुष इन्द्रियके आधीन न हों, वे पुरुष अवश हैं। जो परेन्द्रिय विषयोंके आधीन नहीं हैं, जो रागस्नेहके बन्धनमें नहीं हैं—ऐसे पुरुष होते हैं साधु, आत्मसाधना करने वाले महापुरुष। वे साधु पुरुष अत्यन्त स्वतन्त्र हैं। उन साधु पुरुषोंके करनेका जो काम है वही आवश्यक काम है। अब चूंकि मुमुक्षु जिज्ञासु आत्महिताभिलाषी पुरुषोंके करनेका जो काम है वह है जरूरी काम। बाकी काम जरूरी नहीं हैं ऐसा जानकर आवश्यक शब्दका अर्थ जरूरी प्रचलित हो गया है। तो आत्महितके लिए ये सब जरूरी काम हैं। इन ६ आवश्यकोंको अपनी पदवीके अनुसार गृहस्थोंको भी पालन करना चाहिये और साधुवोंको भी।

समता व स्तवन नामक आवश्यक—रागद्वेषका परिणाम न होकर समता भाव रहना। समता ही सुख है, समता ही शान्ति है, समता ही मोक्ष है, समता ही मोक्षमार्ग है, धर्मपालन समता ही है। जो पुरुष रागद्वेष कर समतापरिणाममें रह सकता है उस पुरुषने धर्मपालन किया है। समता आवश्यक कर्तव्य है, पर गृहस्थोंमें समता साधुवोंके समान भी बन सकती, फिर भी जितना हो सकता है उतना समता पालें। समतापरिणाम धारण करनेकी इच्छा हो तो यह निर्णय बना सकते हैं कि हमें ऐसे ऐसी स्थितिमें समता तो रखना ही आवश्यक है। बहुतसी घटनायें ऐसी आती हैं कि हम थोड़ासा गम खायें, ५ मिनट और घटना देख लें तो इसके बाद ऐसी स्थिति बदल जायेगी कि मुझे समताका पूरा मौका मिल जाता है। पर पर आदत तो कुछ ऐसी बनी है कि बीच बीचमें दूसरेकी बात काट काट अपनी बात रखते जाते हैं। कितनी ही घटनायें ऐसी हैं कि जिनमें समता रखना हमें आवश्यक हो जाता है और उसके अभ्याससे हम शान्ति पा सकते हैं। हमारी दैनिक चर्यावोंमें और जैसे यात्रा प्रसंग चल रहा है, इसमें अव्यवस्था होने का कारण जरूर हो सकता है इसके ही कारण अधीरता भी है। हर बातमें अधीरता है। समता परिणाम अभी भी शान्तिका कारण है और भावी कालमें भी शान्ति बरतेगी। समतापरिणाम गृहस्थोंको भी अपनी पदवीके अनुसार धारण करना चाहिए। दूसरा कर्तव्य बताया है स्तवन। जिनेन्द्रप्रभुके गुणोंका कीर्तन करना यह स्तवन कहलाता है। उन वचनोंसे खुदको भी शान्ति मिलती है। तो जिनेन्द्र भगवानके वचनोंके मन, वचन, काय इन सबकी सावधानी है। तो उपयोग विशुद्ध बननेसे पुण्यलाभ भी है और धर्मलाभ भी है। यह कर्तव्य साधुवोंके लिए क्यों रखा? चूंकि उनके आरम्भ परिग्रह नहीं लगा है, आजीविकाकी भी कोई चिंता नहीं इसलिए रख लिया। वैसे गृहस्थोंके लिए भी यह काम है। इस कर्तव्य को करके पुण्यलाभ व धर्मलाभ दोनों ही मिलते हैं।

वंदना व प्रतिक्रमण नामक आवश्यक—तीसरा आवश्यक है वंदना। वीतराग सर्वज्ञदेवके गुणोंका स्मरण रखते हुए सिर हाथ आदिक जो नम्र हो जाते हैं ऐसी नम्रताका नाम है वंदना। यह वंदना भी श्रावकके लिए प्रतिदिन किया जाना आवश्यक है। चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना इसका नाम है प्रतिक्रमण। व्यवहारदृष्टिसे तो सावधान होकर निष्कपट होकर गुरुजनोंके समक्ष अपने दोषोंको प्रकट करना और गुरुजन जो भी आज्ञा दें उस पर संदेह न करते हुए आज्ञाका पालन करना यह है प्रतिक्रमण। मगर व्यवहारप्रतिक्रमणमें यह गारंटी नहीं है कि लगे हुए अपराध दूर हो जायें। लेकिन जिनकी केवल एक बाह्यदृष्टि है—जब कोई दोष लगे तो गुरुवोंसे कहना चाहिए और जो गुरुजन कहें उसे पालना चाहिए ऐसा जो करते हैं, पर मनमें श्रद्धा नहीं, उस प्रकार का भाव नहीं तो उस से शुद्धि नहीं है। प्रतिक्रमणमें गुरुजन जो कुछ कह दें, उसमें सन्देह न करके पालन करनेकी बात करनी चाहिए। अब परमार्थदृष्टिसे प्रतिक्रमण सुनें। जिसके दोष लगे हैं ऐसा वह ज्ञानी पुरुष अपने आपमें चिन्तन करता है कि मैं क्या हूं और ये निमित्त भी जो हो गए ये क्या हैं? इन रागादिक भावोंसे निराला केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं मैं और यह स्वभाव उपकारी है, शाश्वत है, निष्कलंक है, परपदार्थ और औपाधिकतासे रहित

है । इस स्वभावमात्र निज अंतस्तत्त्वमें अपराध होते कहां हैं ? उसमें रागादिक ही कहां हैं ? ऐसा उसे परमार्थदृष्टि से नजर आ रहा है । अब इस परमार्थदृष्टिको कर लेने वाले पुरुषका बाह्यप्रतिक्रमण उसका निमित्त है ।

मेरे ये पाप मिथ्या होवें, ऐसा सुन करके कुछ ऐसा अवधारण कर सकते हैं कि यह तो एक खानापूर्ति करने की बात है । कोई अपराध कर ले तो उस समय यह बोलना चाहिये कि मेरे अपराध मिथ्या होवें । तो उसका प्रतिक्रमण पूरा हो गया, मोक्षमार्गमें बढ़ गया । जिसकी दृष्टि निर्विकार सनातन चैतन्यस्वभावके उपयोगमें लग गयी है और अनुभव यथार्थ बना उसके यह सावधानी बनती है कि यह मेरा अपराध तो मिथ्या था, ये अपराध करना मेरा स्वरूप नहीं । ऐसा जब अपने आपके विशुद्ध स्वरूपका ज्ञान बनता है तो उसका यह परमार्थदृष्टिका प्रतिक्रमण बना और निष्कलंक विशुद्ध चैतन्यस्वभावके दर्शनसे प्रतापसे अपराध कर्म ये सब खिर जाते हैं । ऐसा प्रतिक्रमण साधुजन तो करते ही हैं और गृहस्थजनोंको भी करना चाहिए । इसका अन्तर्दृष्टिसे सम्बन्ध है और ऐसी अन्तर्दृष्टि गृहस्थ भी कर सकते हैं ।

प्रत्याख्यान व व्युत्सर्ग नामक आवश्यक—पांचवा आवश्यक कर्म है प्रत्याख्यान । आगामी काल ही से आश्रवके रोकनेका नाम है प्रत्याख्यान । जैसे जब कभी दोष लगते हैं और इतने बड़े दोष लग गए कि आपत्ति भी आ पड़े तो ऐसी आपत्ति पड़ने पर मनुष्य कह भी देते कि यह काम मुझे न करना था यह तो है प्रतिक्रमणका रूप । अब मैं आगे न करूंगा वह तो प्रत्याख्यानका रूप है । ६ ठा आवश्यक है कायोत्सर्ग । शरीरका त्याग करनेका नाम कायोत्सर्ग है । काय मायने शरीर, उत्सर्ग मायने त्याग । इस देहसे ममता भाव न रखना, देहको अपने स्वरूपसे निराला रखना इस दृष्टिमें कायोत्सर्ग बनता है । तो शरीर का त्याग करके अथवा पाषाणकी मूर्तिकी तरह निश्चल, निष्काम रहकर सामायिकमें लीन रहनेका नाम है कायोत्सर्ग । ये सभी आवश्यक कर्म हैं जो कि साधुवों को बताये हैं, पर ये सभीके सभी गृहस्थोंके द्वारा भी किए जाने चाहियें ।

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य ।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगन्तव्यम् ॥२०२॥

गुप्तियोंकी यथाशक्ति पालनीयता—अब इस गाथामें तीन दण्डकी बात बतलाते हैं अर्थात् तीनगुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके बारेमें बतलाते हैं कि इन्हें शक्तिके अनुसार श्रावकोंको भी पालना चाहिये । मन वश करना यह ज्ञानके बिना बन ही नहीं सकता । ज्ञान ही विषयोंसे रोकता है । विषयोंमें क्या रखा है आनंद ? इन विषयों में पड़ते आए हैं लेकिन साथ कुछ नहीं रहा । इस ही भवमें २०—५० वर्ष भोग विषयोंमें बिता दिये, पर आज कुछ भी तो पासमें नहीं है । बहुतसे भोग विषयोंके सुख भोग लिए, पर आज कुछ भी सुख नहीं दिखता । जब तक मोह था तब तक विषयोंमें हमारी वृत्ति थी, विषयोंमें उपयोग लग रहा था, विषयोंमेंही मौज माना जा रहा था । अब वे विषय विघट गए, वह समय तो अब गुजर गया । अब यह उपयोग बेकार रहकर पहिलेसे भी अधिक दुःखी बन गया । ज्ञानबल संभलता है कि इन विषयोंकी प्रीति करनेमें लाभ नहीं है । इन विषयोंसे उपेक्षा करें और आत्मीयस्वरूपके दर्शनमें अपना निरन्तर उपयोग दें इससे तो थकोगे नहीं और विषय भोगोंसे थक जावोगे । कुछ ही समय बाद उपभोग बेकार हो जाएगा, फिर आकुलता होगी और आत्मीय आनंदके अनुभवमें आत्मीयस्वरूपके दर्शन करते रहनेमें ऊब न आएगी, आनंदका भी अनुभव होगा, विपत्ति भी टली । तो ज्ञानबलसे अपने मनको समझा लेना और विषयभोगोंमें न उलझने देना इसका नाम है मनोगुप्ति । इसी प्रकार वचन मौन रखना, बोलना ही पड़े तो बड़ी सावधानीसे स्वपरहितके लिए कुछ थोड़ासा बोलना यह वचनगुप्ति है । कायाको निश्चल बनाए रहना यह कायगुप्ति है । ये तीन गुप्ति श्रावकोंको भी अपनी पदवीके अनुसार पालन करना चाहिए । इसके अभ्याससे आत्मबल बढ़ता है, फिर उसके अनुसार इन तीन गुप्तियोंका पालन भी विधिपूर्वक होता है । तो जो साधु करते हैं, इन्हें अपनी पदवीके अनुसार श्रावकोंको भी करना चाहिए ।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ।।२०३।।

समितिमें निवृत्तिपरक प्रवर्तन—ज्ञानी पुरुषका व्यावहारिक, सांसारिक कार्योंमें उत्साह नहीं रहता और उत्साह रहता है अपने अन्तःप्रवर्तनमें । इसका कारण यह है कि ज्ञानीके यह सब निर्णय हो चुका है कि लोकमें मेरे लिए सारभूत वस्तु बाहर तो कहीं है ही नहीं और बाहरी पदार्थोंमें ममता रहे, राग रहे, उनमें झुकाव रहे ऐसा जो परिणाम है वह भी सारभूत नहीं, प्रत्युत बरबादीके हेतुभूत है । यह निर्णय ज्ञानी दृढ़तापूर्वक करता है, इस कारण उसका प्रवर्तन, उसकी धुन बाह्यमें नहीं रहती। बाह्यकार्योंमें अनुत्साह रहता है। परिस्थितिवश करना पड़ता है, करता है, किन्तु एक निवृत्त होता हुआसा करता है । जैसे किसी बालकका चाव खेल कूदमें है और माता उसका हाथ पकड़कर जबरदस्ती रोकें तो उसका रुकना रुकनेकी ओर नहीं है, रुकनेसे हटनेकी ओर है, रुका जरूर है । इसी प्रकार बाह्यकार्योंमें कुछ रुकना पड़ता है, रहना पड़ता है तो वहाँ रुका और रहा नहीं है, वह वहाँ निवृत्त होता हुआ ही रुक रहा है तो ज्ञानी जीवकी अन्तःवृत्तिमें तो उत्साह है, बाह्यवृत्तिमें अनुत्साह है ऐसा ज्ञानी पुरुष जब किसी भी प्रकारके असामर्थ्यसे मुनिव्रत धारण नहीं कर पाता तो श्रावक व्रत धारण करके अपनेको अनेक पापोंसे बचाता है । उस श्रावक की यहाँ चर्चा चल रही है कि उसे अपना जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए । तो इससे पहिले बारह व्रतोंका वर्णन था । व्रत नियम जितने भी धारण किए जाते हैं उनका लक्ष्य अहिंसाकी सिद्धि है और अहिंसा नाम है उस परिणतिका जिस परिणतिमें ममताका परिहार हो और विशुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति हो, इसे कहते हैं अहिंसाव्रत । समस्त व्रत नियमोंका प्रयोजन अहिंसाकी सिद्धि है । अहिंसाकी सिद्धिका जिनका लक्ष्य न बन सके, उनके व्रत नियम आदिक ये सब श्रम हैं, एक दिलबहलावा है, कुछ मौज है, मोक्षमार्गमें जब तक मोक्षके स्वरूपका बोध न हो तो मोक्षमार्ग पर क्या चले ?

मुक्तिस्वरूपके ज्ञान होने पर मुक्तिमार्गमें प्रवृत्ति—मुक्तिस्वरूप क्या है ? यह भान होता है अपने सहज मुक्तस्वभावके दर्शनसे । मुक्तिमें और क्या मिलेगा ? मिलता नहीं है छूटता है । अपनेमें जो परभाव लगे हुए हैं वे छूटते हैं । फिर जो कुछ मिल गया अर्थात् प्रकट हो गया उसकी महिमा इसलिए गाते हैं कि अनादिसे अब तक मिला न था, तिरोहित था वह अब प्रकट हुआ है । वह अपने स्वरूपसे बाहर कुछ मिलता नहीं है अर्थात् कैवल्य अवस्थाका नाम मुक्ति है । केवल रह जाना, केवल एकत्वमात्र रह जाना इसका नाम मुक्ति है ऐसी मुक्ति हम चाहें और कभी हम अपनेको इस प्रकार निरख नहीं गए कि मैं सचमुच केवल ही हूं, अपने एकत्वस्वरूप हूँ, ऐसा अपने कैवल्यस्वरूपका बोध न हो सके तो कैवल्य का मार्ग कैसे पाया जाएगा ? अपना कैवल्यस्वरूप प्रसिद्ध हो यह लक्ष्य होता है समस्त व्रत नियमोंके पालनका । प्राप्त तो जो स्वरूपमें है वही होता है । जो स्वरूपमें नहीं है वह प्राप्त कैसे हो ? इस अहिंसाकी सिद्धिके परिणतिमें आचार्यदेवने टंकोत्कीर्णवत निश्चल ज्ञानभावके रूपमें स्मरण किया है । टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अर्थात् टांकीसे उकेरी हुई प्रतिमाकी तरह निश्चल । जैसे टांकीसे पदार्थमें प्रतिमा उकेरी गई, प्रकट होनेके बाद उसके प्रत्येक अंग उपांग निश्चल ही तो बने हुए हैं । इसही प्रकार जो प्रकट होता है तत्त्व ज्ञायक स्वरूप । रागभाव न रहनेके कारण जिस रूपमें जो बात प्रकट हुई वह निश्चल रहती है । उसे कौन हटाये ?

टङ्कोत्कीर्णवत् दृष्टान्तका अन्तर्मर्म—टङ्कोत्कीर्णवत्के विवरणके प्रसंगमें दूसरी बात यहाँ यह निरखें कि कारीगरने उस पत्थरमें मूर्ति बनाया नहीं, वह मूर्ति तो उसमें अन्दर पहिलेसे ही मौजूद थी । कारीगरने उस बड़े पत्थरके भीतर बिराजे हुए उन अंशोंको निरख लिया अपने बुद्धिबलसे और फिर छेनी हथौड़ीसे उन अंशोंको ढकने वाले पत्थरोंको दूर करना शुरू किया । कारीगरने हटाने हटानेका ही काम किया, लेनेका काम कुछ नहीं किया, क्योंकि जो बात जिसमें है नहीं वह कभी लगाई नहीं जा सकती और जो बात जिसकी नहीं है वही हटाई जा सकती है । तो उस कुशल कारीगरने पहिले प्रयोगमें बड़े-बड़े पत्थरों को हटाया बड़ी छैनी हथौड़ीसे, लेकिन सावधानी तब

भी ऐसी रही कि मूल जो अंश हैं जिन्हें प्रकट करना है वहां तक चोट न लगे। फिर दूसरी बारके प्रयोगमें कुछ और सावधानी बरती। अब छोटे-छोटे पत्थर हटे। तीसरी बारके प्रयोगमें ऐसी सावधानी बर्तनी पड़ी कि अत्यन्त पतली छैनी छोटे हथौड़ेसे अत्यन्त छोटे-छोटे पाषाणांश हटाए गए। मूर्ति प्रकट हो गई। जो प्रकट हुई वह कहींसे लाई नहीं गई जो थी वह व्यक्त हो गई। आवरण हटाया गया। इसी प्रकार इस आत्माका जो परमात्मस्वरूप प्रकट होता है वह लगाया नहीं गया, बताया नहीं गया, जोड़ा नहीं गया, किन्तु वह परमात्मस्वरूप विषयकषायके परिणामसे तिरोहित था तब प्रज्ञाकी छेनीसे, प्रज्ञाके हथौड़ेसे इस प्रज्ञावान जीवने उन आवरणोंको हटाया, उन विषयकषायके भावों को दूर किया जो इस परमात्मस्वरूपको आवृत्त किए हुए था। बस हटाने हटानेका काम भली प्रकार समाप्त हुआ कि परमात्मस्वरूप अपने आप प्रकट हो गया। वह तो स्वयंभू है, स्वयं ही होता है। एक आवरणोंके हटानेकी प्रक्रिया इन तत्त्वाभ्यास ज्ञान आदिक प्रयोगोंसे किया जाता है।

पांच समितियोंमें प्रथम ईर्या समिति— श्रावकके उन बारह व्रतोंका वर्णन करनेके बाद इस प्रसंगमें यह बात बताई जा रही है कि जो मुनियोंका व्रत बताया गया है, मुनियोंकी जो अहिंसावर्द्धक चर्या बताई गई है, उसका अभ्यास श्रावकको भी रखना चाहिये। जैसे ५ समितियां मुनिधर्ममें बतायीं, उनका सेवन गृहस्थको भी अपने बलके अनुसार करना चाहिए। ५ समितियां हैं—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और कायोत्सर्ग समिति। सम शब्दका अर्थ है भली प्रकारसे, इति मायने प्राप्त होना। अपने आपके निकट भली प्रकार पहुँच जाना इसका नाम है समिति। खाना, पीना, चलना, उठना, बैठना, धरना, उठाना—इन सारी क्रियावोंके करनेमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिये, अहंकार ममता आदिक चीजोंका उत्सर्ग करना चाहिए। तो अपने आपमें अपना काम करनेको पड़ा हुआ है। चीज तो परमार्थमें लक्ष्यमें यह है, पर व्यवहारीजनोंको शारीरिक क्रियायें ये सब आवश्यक हैं तो इनमें भी भली प्रकार प्रवृत्ति करना सो समिति है। जाना है तो उस ओर देखकर जाए, अच्छे कामके लिए जाये, अच्छा परिणाम रखकर जाये—ऐसी चर्या श्रावककी बने अपनी पदवीके अनुसार तो बुद्धि व्यवस्थित रहेगी, व्यवहार कार्योंकी भी सिद्धि होगी, परमार्थकी सुध भी न भूलेगी, उसका भला ही है इसमें।

भाषा समिति—भाषा बोले, वचन बोले तो हित मित प्रिय वचन बोले। जिसमें अपना हित हो, दूसरेका हित हो ऐसे वचन बोले जायें। जिसमें अपनेको और दूसरोंको कष्ट पहुंचे ऐसी वाणी न बोली जाये। जो विषयमुग्ध हों, पर्यायमुग्ध हों उनसे ही स्वपर अहितकर वाणी निकलती है। ज्ञानी जीव स्वपर हितकारी वचन बोलता है और वे वचन भी परिमित हों और प्रिय हों, आक्षेपपूर्ण न हों, खोटे लक्ष्यको लेकर न हों। आत्महितकी धुनि वाला श्रावक स्वयं ऐसी ही वाणी बोलता है कि जिसमें ये सब गुण होते हैं। दुर्वचन बोलनेसे प्रथम तो इसने संक्लेश बहुत किया तब दुर्वचन बोल सका। कोई पुरुष किसीकी निन्दा करे तो निन्दा करनेसे पहिले उसने अपनेमें कुछ क्लेश बनाना पड़ता है तब वह निन्दा कर सकता है। कोई किसीकी प्रशंसा करना चाहे तो उसके अन्दर किसी भी प्रकारके क्लेश के भयकी बात नहीं होती। तो वचन ऐसे बोलने चाहियें जिससे खुदको और दूसरोंको भी विश्राम मिले। यह भाषा समिति है। अब बतलावो कि ऐसा वचन व्यवहार क्या गृहस्थोंको आवश्यक नहीं है?

एषणा समिति—साधुजनोंकी आहारचर्याविधि विशिष्ट है कि विधि? निर्दोषविधिसे समतापरिणाम रखकर आहार ग्रहण करें। ऐसा ही गृहस्थयोग्यविधिसे गृहस्थ करें निर्दोष आहार तो क्या इसमें कोई दूषण है? बल्कि इससे तो उसकी शोभा है। एक दो बार नियमितरूपसे आहार ग्रहण करना चाहिये। यदि आहारकी निरन्तर आकांक्षा बनी रहा करती है तो वहां इतनी पात्रता नहीं रह सकती कि आत्मानुभूति या अन्य अन्य उत्सर्गकी पात्रता पा सके। आहार प्रथम तो नियमपूर्ण एक दो बार करना चाहिए और यथाशक्ति शुद्ध भोजन होना चाहिए। शुद्ध भोजनमें सात्विकता रहती है और परिणामोंमें बहुत उथल पुथल भी नहीं मचानी पड़ती। अब कोई शुद्ध भोजन भी चाहे और बहुत ही मजेदार सरस भोजन भी चाहे तो इन दो का मेल न बैठनेसे शुद्ध भोजन वाला संक्लेश परिणाम

का अनुभव किया करता है और शुद्धता न हो भोजनमें तो ऐसा भोजन तो बड़ी सुगमतासे प्राप्त होता है। तो भोजन का शुद्ध होना अभक्ष्यका परित्याग होना आवश्यक है। अभक्ष्योंमें मुख्य अभक्ष्य त्यागने योग्य वह है जिसमें मद्य मांस मधुका दोष हो। जैसे बाजारकी जलेबी, गोभीका फूल, पुराना अचार यों कुछ चीजें ऐसी हैं जो नियमतः त्यागना चाहिए। ऐसे अभक्ष्योंका परित्याग करें, रात्रिके भोजनका त्याग करें, गन्दे भोजन का त्याग करें और अपनी बेला नियमित रखकर आहार करें। अनन्तकाय आदि अभक्ष्योंके त्यागका भी ध्यान रखें।

जीवनमें अपना कर्तव्य—भैया ! जीवनमें ऐसी धुन बनायें कि कर्तव्योंके बाद जो भी समय अपने पास शेष बचता है उसमें तत्त्वाभ्यास करें। ज्ञानार्जन, तत्त्वाभ्यास, स्वाध्याय—इनमें अपना समय बितायें। समय बड़ी तेजीसे बह रहा है, जो क्षण निकल गया वह पुनः प्राप्त नहीं होता। यौवन चला गया वह वापिस लौटकर नहीं आता। तो अपने बलका सदुपयोग कर लें तो अब भी चेत गए ऐसा समझ लेना चाहिए। अन्यथा बची खुची आयु भी शीघ्र ही गुजर जाने वाली है। अपने जीवनमें यदि रागद्वेष न घटावे, अपने यथार्थ विचार न बना सके, अहिंसा-मयी धर्म न पाल सके तो समझ लीजिये कि हमने कितना अमूल्य अवसर हाथसे गंवा दिया ? अनन्त काल व्यतीत हो गया, अनेक विषय सुख भोगे, पर आज उनमें से कुछ भी पास है क्या ? वैसीकी वैसी ही आकुलता बनी हुई है, वैसे ही जन्ममरणके चक्करमें पड़े हुए हैं। तो हमें अपने समयका सदुपयोग ज्ञानाभ्यासमें करना चाहिए। हमारा एक मुख्य लक्ष्य बने। बाह्य समागम जब आये तो आये, पुण्यानुसार जब आनेको है तो आयेगा। हम बहुत बहुत धन प्राप्तिका चिंतन करें तो चिन्तन करने से कहीं आ न जायेगा। वह तो जितना आनेको है आयेगा, उसीमें अपनी व्यवस्था बनायें। हम अपनी आवश्यकतायें अधिक न बढ़ायें। यहाँ किसीको क्या दिखना है, किसको राजी करना है ? इन कार्योंसे कुछ लाभ भी नहीं है। लाभ तो है इसमें कि अपनी जैसी स्थिति हो वैसी ही व्यवस्था बनाकर ज्ञानाभ्यासमें अपनेको लगायें। बाहरी पदार्थोंका संग्रह विग्रह रक्षण करनेमें इस आत्माका कुछ भी लाभ नहीं है। एषणा समिति हुई यह कि शुद्ध निर्दोष विधिसे थोड़ी बेलावोंमें अपना आहार करना जीवन रक्षाके लिए और जीवन को ज्ञानाभ्यासमें बिताना।

आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति—चौथी समिति है आदान निक्षेपण समिति। चीजको धरना है तो उसे देखभाल कर धरना उठाना, जिससे किसी भी जीवकी हिंसा न हो, किसीका चित्त न दुखे। देखिये जीव हिंसासे नुकसान किसका हुआ ? नुकसान हुआ इस प्रमादी जीवका। कोई कहे कि इसमें क्या नुकसान हो गया ? वह तो कीड़ा मकोड़ा था, वे तो मरते ही रहते हैं, उनके मरनेसे क्या नुकसान ? ऐसी बात नहीं है। जीवका नुकसान वास्तवमें यह कहलाता है कि जीव मोक्षमार्गसे दूर हो जाये। संसारकी बात तो मिलती रहती है। वास्तविक बरबादी तो यह है कि वह जीव उन्नति कर रहा था और उसका घात करके उसे फिर नीचे गिरा दिया। कहां तो था वह चारेन्द्रियका जीव और उसका घात कर देनेसे वह फिर तीनेन्द्रिय जीव बना या द्वीन्द्रिय एकेन्द्रिय बना तो यह उसकी बहुत बड़ी हिंसा है। हालांकि मोटेरूपसे देखो तो चारेन्द्रियसे तीनेन्द्रियमें पहुंच गया तो क्या होगया ? थोड़ी हल्की दशामें पहुंच गया। पर वह न जाने किस तरहसे ऊंचे बढ़ा था ? उसका घात करके उसे निम्नगति का जीव बना देनेकी बात कर देना, यह कितनी बड़ी हिंसाकी बात हुई ? तो परमार्थसे जीवोंकी इस प्रकार हिंसाका भी भाव रखकर कि यह हिंसा न बने। हमें चीजोंके धरने उठाने आदिकके प्रसंगमें बड़ी सावधानी बर्तनी चाहिये—ऐसी बात प्रतिष्ठापना समितिकी है। तो हम अपना यह सब व्यवहार सावधानी पूर्वक रखें, ऐसा समितिके वर्णनमें इस श्रावक को प्रेरणा दी है आचार्यदेवने कि समितियोंका पालन अपनी पदवीके अनुसार श्रावकको करना चाहिये।

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्मत्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

दशलक्षण धर्मकी सेव्यता—मुमुक्षु पुरुषोंको पालन करने योग्य दश धर्मोंका इस गाथामें वर्णन किया जा

रहा है। दश लक्षण धर्मके दश हैं लक्षण, जिसके ऐसा यह धर्म। धर्म कहीं १० प्रकारका नहीं है, किन्तु १० हैं लक्षण जहाँ अर्थात् हम १० तरहसे जिसकी परख कर रहे हैं वह है एक धर्म। उस धर्मकी सेवा करनी चाहिए। हम उस धर्मभावको कभी क्षमाके रूपमें देखते हैं। क्षमा धर्म है इसका अर्थ यह न होगा कि अन्य धर्मलाभ न रहे और एक क्षमाभाव आ जाये तो एक धर्म तो आ गया। धर्म होगा तो समग्र होगा। उसकी पहिचानके ये १० चिन्ह बताये गये हैं और इसी कारण यह भी कह सकते कि भली प्रकारसे इन दश धर्मोंमें से एक भी धर्म आ जाये तो वहाँ दशों आ जाते हैं। ऐसा कहनेका भी अवसर इसलिये मिला कि धर्म एक ही प्रकारका है। मोह क्षोभरहित निर्विकार परिणाम धर्म है। इस बातको भिन्न भिन्न करके उसके करनेके लिये क्या कर्तव्य है। उस कर्तव्यको बतानेके लिये १० प्रकार के धर्मोंका प्रतिपादन हुआ है।

उत्तम क्षमाधर्म—प्रथम तो क्षमा क्षमाभाव करना। सम्यक प्रकार अपने आपके क्षमास्वभावी स्वरूप का निर्णय करके और उस स्वरूपका आश्रय लें वहां उत्तमक्षमा प्रकट होती है। क्षमाभाव प्राणी अपने आप पर कर सकता है और और क्षमाका भाव भी यह प्राणी अपने आप पर करता। न तो किसी दूसरे पर यह क्रोध करता है और न क्षमा करता। जैसे कोई कहे कि हमारा तुममें बहुत ज्यादा राग है तो क्या बात उसकी यथार्थ है? क्या कभी भी किसी जीवका रागद्वेष किसी दूसरेमें हो सकता है? हमारा तुममें बड़ा प्रेम है यह बात सोलह आने गलत है। हमारा प्रेमपरिणमन, हमारा रागपरिणमन हमारे प्रदेशोंमें उत्पन्न होकर यहीं विलीन होगा, यहीं उत्पन्न होगा। हां इतनी विशेषता जरूर है कि जो भी परिणमन होते हैं, वे किसी न किसी परपदार्थका विषय करके अपना निर्णय कर पाते हैं। राग बनता है किसी परको विषय करके, परन्तु राग परमें है ऐसा कहना उपचार कथन है। विषयमें विषयी का उपचार है और यह व्यवहार चल उठा कि हमारा तुममें बड़ा प्रेम है। इसी प्रकार सभी कषायोंकी बात है। यह जीव इससे बड़ा क्रोध करता है, इस पर बड़ा क्रोध मानता तो क्रोध जो कर रहा है वह अपने ही क्षेत्रमें अपने ही निज जीवास्तिकायमें एक परिणमन कर रहा है क्रोधरूप। उस क्रोधका आधार भी खुद है। उस क्रोधका करने वाला भी खुद है और खुदको ही किया और सम्प्रदान भी खुद है और कारकोंकी बात तो है ही, मगर सम्प्रदान भी अपनी पर्यायका खुद हुआ करता है अर्थात् सम्प्रदानका भेद समझनेके लिये किसके लिये यह भेद करके पूछें? यह क्रोध किसके लिये हो रहा, इसका फल मिला किसको? खुदको। जिस समयमें जो परिणमन होता है उस समयमें उसका फल तुरन्त ही मिल जाता है। तो खुदकी अशान्तिके लिये, खुदके क्रोधके लिये वह क्रोध कर रहा है। क्षमा कर रहा है तब अपने आपको खुद क्षमा कर रहा है, अपने आपकी शान्तिके लिये क्षमापरिणमन कर रहा है। उसका फल क्या है? विश्राम आराम अनाकुलता। तो क्षमा भी यह जीव स्वयं स्वयं पर किया करता है। ऐसा क्षमा भाव जिससे जीवमें अपने आत्माको क्षमा किया जा रहा हो, सम्यक्त्व उत्पन्न हुए बिना नहीं होता। जब अपने आपके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो तब ही वास्तविक पद्धतिसे अपने आपको क्षमा किया जा सकता है। वह विधि अनोखी है और उसके बिना व्यवहारमें जो क्षमाके प्रदर्शन हैं वे सब नाटक और विडम्बना हैं और कहीं कहीं तो विडम्बना ही बनती है, क्षमा भीतरमें आ नहीं पाती। किसी परिस्थितिवश खुद निर्मल हो तो भले ही किसीका भी दबाव पड़े तो क्षमाके वचन बोल दिये जाते हैं, किन्तु उन वचनोंका असर भी नहीं हो पाता।

पवित्रताका प्रभाव—कुछ ऐसी भी बात है कि दूसरा अगर साफ हृदयका है तो उसके वचन जल्दी घर कर जाते हैं। वचनोंकी पद्धतिसे मुखकी मुद्रासे या पूर्वापर घटनासे सब जान लिया जाता है। यह वास्तविक क्षमा की बात नहीं कही जा रही है। एक बार गुरुजीने एक कथा सुनाई थी कि दो रईसोंमें परस्परमें अनबन हो गयी। करीब १ वर्ष हो गया एक दूसरेसे न बोलें। एक दिन भादोंमें क्षमाके दिन क्षमा का वर्णन चल रहा था। एक सेठ सुन रहा था सभामें। सुननेके बाद उसके मनमें विशुद्ध परिणामसे यह आया कि हम सेठके पास जाकर क्षमा मांगें और परस्परका मैल हटायें। जैसे ही उसके मनमें आया वह तुरन्त निष्कपट क्षमा याचनाके लिये अपनी बग्घीमें बैठ

कर चला। उसी समय दूसरे सेठके मनमें भी वैसा ही भाव आया। सो वह भी अपनी मोटरमें बैठकर चला। दोनों ही रास्तेमें एक दूसरेसे मिल गये, बात भी नहीं कर पाये। दोनों ही एक दूसरेके गलेसे लिपट गये। बादमें वचन निकलते हैं। तो कौन नहीं समझ पाता कि इसके ये वचन हमारे वात्सल्यके हैं और शुद्ध हृदयसे हैं। बाहरकी जो क्षमा है उसमें कपट हो सकता है, विडम्बना हो सकती है, पर सम्यक्त्वसहित जो क्षमा है, अपने आप पर क्षमा करने की बात है, उसमें क्या विडम्बना और क्या कपट ? वैसे यह विकल्प भी करनेकी जरूरत नहीं रहती कि मैंने अपने आपका घात किया, मैं अपने आपको क्षमा करूं। यह तो प्रतिपक्षकी बात है, लेकिन इसने दृष्टि तुरन्त अविकारी स्वभाव पर पहुंचाई थी। अतएव निरन्तर अपने आपकी सुध रखता है और अपने आपको क्षमा करता रहता है। ऐसे पुरुषके द्वारा दूसरे पुरुषके प्रति भी अन्यायकी बात नहीं बनती है। क्षमाभावसे आत्मसम्पन्नताका विकास होने लगता है। अतः दशलक्षणमें सर्वप्रथम क्षमाकी बात कही जाती है।

क्षमाधर्मके अभावमें हानि—जीवनमें भी यदि क्रोधकी प्रकृति बनी है तो वह पद पद पर नुक्सान उठायेगा। जिसकी प्रकृतिमें क्रोध बसा है, जरा जरासी घटनावोंमें क्रोध चलता रहता है ऐसा कोई गृहस्थ हो तो वह अपना जीवन सुखिया नहीं व्यतीत कर सकता। क्रोधमें बुद्धि भी आधी रह जाती है, विवेक नहीं चलता। अपने आप खुद ऐसा काम कर डालता है और खुदके लिये घातक हुआ। सो अपना व्यवहारिक जीवन भी सुखिया बनानेके लिये यह आवश्यक है कि अपनेको क्षमाशील रखें। क्रोधकषायमें आनेका एक कारण बाहरमें यह भी बना रहता कि लोग मान अपमान पर बहुत ध्यान रखते हैं। इन लोगोंने मेरेको क्या समझा होगा ? लोकका यह समागम यह भी एक ऐसा आश्रय होता है। क्रोध कषाय के प्रकट करनेको नोकर्म अन्य बन जाता है, लेकिन जिसको सब हाल मालूम हैं वे लोग हैं क्या ? ये एक असमान जातीय द्रव्य पर्याय अनित्य मायामय विनष्ट हो जाने वाले हैं। जो यथार्थ बातको समझता है उसको अपमान महसूस नहीं होता। वह उस वातावरणके कारण अपनेको क्रोधमें नहीं पटकता, क्षमाशील रहता है। साधु संतजन बड़े बड़े शत्रुके द्वारा भी आखिर वन्दनीय होते हैं। जिन पर महान क्रोध उत्पन्न हुआ था, जिनका नाश करनेके लिये कमर कसकर वीर आ रहे हों और उन्हें क्षमाशील दिखें, शान्त दिखें तो वे उस पर हाथ नहीं उठा पाते। क्रोधकषायके कारण परिणामोंको कलुषित नहीं होने देनेकी बात क्षमामें है। क्रोधसे दूर रहना इसको क्षमा कहते हैं और सम्यक्त्वभावसहित क्षमाके परिणामको उत्तमक्षमा कहते हैं।

उत्तम मार्दवधर्म—दूसरा लक्षण है धर्मका नम्रता (मार्दव), मान न करना। जातिमद, कुलमद आदिक जो ८ प्रकारके मद हैं, उन मदोंसे रहित रहना इसको मार्दव कहते हैं। अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको निरखकर जरा इन जाति कुल आदिककी असारतावोंको तो देखिये। अज्ञानी जीव ही ममकार अहंकार करके मद बनाये रहता है। किसी बड़ी जातिमें पैदा हो गया तो कोई बड़ी बात उसने कर ली क्या ? आत्माका स्वभाव विशुद्ध ज्ञानानन्द-मय निरन्तर बर्तते रहनेका था। वह आत्मा आज भी विकल्प कलंकमें पड़ा हुआ है और कहो उस जाति और कुल का अहंकार रखनेके कारण उस पर्यायको अपनानेके कारण मिथ्यात्वरूपी महाकलंक बस रहा है। उस आत्माने क्या कोई बड़ा लाभ प्राप्त कर लिया एक किसी भी अच्छी जातिमें उत्पन्न होकर ? जाति क्या है ? यद्यपि उत्तम जाति में उत्पन्न होनेसे यो समझिये कि अच्छे वातावरणमें आनेसे एक धर्मका प्रसंग मिल सका, एक साधन प्राप्त हो सका, मगर यह बिरला हो पाता है अन्यथा तो प्रायः सभी मनुष्य एक जातिकी श्रेष्ठता सोच सोचकर अपनेमें मद उत्पन्न करते हैं और कोई अपनेको छोटा माननेको तैयार नहीं होता। एक बार शाहपुर से (सागर) सोना गिरि पैदल जा रहे थे। साथमें एक चर्मकार भी हो लिया। हमसे उससे घुल मिलकर बातें होने लगीं। हमने अपना समय काटनेके लिये उससे एक चर्चा छेड़ दी कि क्योंजी ! सबसे अच्छी जाति कौनसी है ? तो उसने सभी जातियोंके अवगुण बताये और अपनी जातिको सबसे ईमानदार और अच्छा बताया। तो प्रयोजन यह है कि यहाँ कोई भी अपनेको छोटा नहीं मानता। सभी अपनेको बड़ा मानते हैं। पर्यायमें ऐसी अटक है, ऐसी अपनायत है कि उसमें अहंकार बना हुआ है।

आत्माकी ओर कैसे ढल सके ? जिसमें नम्रता हो, अनात्मतत्त्वमें अटक न हो वह ही पुरुष मृदु बन सकता है, अपने आपके स्वरूपकी ओर ढल सकता है।

मार्दव धर्मका विराधक धनवैभवमद—धनवैभवका मद तो प्रत्यक्ष विडम्बना है। वैभव अत्यन्त भिन्न है। उससे आत्माका कुछ सम्बन्ध नहीं है, मगर चित्तमें बसा हुआ है लाखोंका धन। जिसके पास वैभव है वह अपनेमें वैभवकी गरमी बनाये रहता है। दूसरेकी गल्ती तो यह बड़ी जल्दी समझ जाता है कि यह धनका बड़ा गर्व करता है, पर धनके मदमें खुदकी गल्ती यह खुद नहीं समझ पाता। ऐश्वर्यके मद वाला मानता है कि यह मेरी प्रजा है, ये मेरे आधीन हैं, मैं राजा हूं। ऐसा एक स्व स्वामीका संबन्ध जोड़ लेता कि मैं वह अपनी सब सुध बुध खो देता है ज्ञानका मद। बतावो जो ज्ञानकामद टालनेके लिये हुआ करता है वही ज्ञान मद बढ़ानेके लिए हो जाये तो इससे और विशेष विस्मयकी बात क्या कही जाये ? कोई लौकिक विद्या हो वह तो एक घमण्डके लिए हो जाती है। यह अमुक कलामें चतुर है, यह अमुक विद्याका विशेष जानकार है, पर धर्मकी बात जानकरभी मद उत्पन्न हो जाए— इतनी चीजें हमने सीखीं, इतने शास्त्रोंका अध्ययन है, इतनी बातें हम जानते हैं, इतना अच्छा पढ़ लेते हैं, लिख लेते हैं। यों धर्म सम्बंधी बातोंका कुछ ज्ञान हो जाए और उस ज्ञानसे मद उत्पन्न हो तो यों समझना चाहिये कि जैसे पानीमें आग लग जाये तो उस पर आश्चर्य हो, यों ही इस पर आश्चर्य होना चाहिए। अरे ! जीव न्यारा है, पुद्गल न्यारा है, स्वरूप चतुष्टय न्यारा है। इसमें क्या गुण है, किस प्रकार का परिणमन है, किस विधिसे होता है, क्या ढङ्ग है ? और और सूक्ष्म चर्चाएं भी उठाये और उनको उठाकर अपने आपमें एक गौरवसा अनुभव करे। मैं कैसा ज्ञानी हूं, किस ढंगसे बोलता हूं, कुछ न कुछ तरंग आये तो यह क्या खेल है ? जो ज्ञान अभिमान मिटानेके लिए था वह ज्ञान अभिमानका कारण बन रहा है। तो किसी भी पर्यायमें, किसी भी परभावमें अभिमान जगे, आत्मीयता जगे तो वहाँ मार्दवगुण प्रकट नहीं हो सकता है। समयसारमें बताया गया कि मेरे कुछ भी परिग्रह नहीं है, ये पुद्गल परिग्रह नहीं, ये भावभी परिग्रह नहीं, द्रव्य भी मेरे परिग्रह नहीं, धर्मद्रव्य भी मेरा परिग्रह नहीं।

धर्मादिक द्रव्योंकी परिग्रहरूपताकी पद्धति—धर्मद्रव्य आदि पदार्थोंकी परिग्रहताके सम्बन्धमें यह शङ्का हो सकती कि भला धर्मद्रव्यमें कुछ परिग्रहपना अपना मान कहाँ रहे ? फिर क्यों निषेध किया जा रहा है ? धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य— इन्हें जोड़ा है क्या, रखा है क्या ? इनको अपने वैभवमें शुमार किया है क्या ? फिर इनका परिग्रह कैसे होता है ? समाधान यह है कि इनका भी परिग्रह नहीं है और ये परिग्रह बनते हैं अच्छे अच्छे ज्ञानोंके माध्यमसे। धर्मद्रव्यके बारेमें जो हमने ज्ञान किया, षड्गुण हानि वृद्धि, अगुरुलघु, जो जो भी हमने धर्मके सम्बन्धमें जाना और जानकर कभी हम चर्चामें बैठे हों और चर्चा करते हुएमें कुछ हमें गुस्सा आ जाये, विवाद हो जाये तो हम यह पूछते हैं कि धर्मद्रव्य तो परिग्रह नहीं बनता है। लड़ाई किस बात पर ? लड़ाई जितनी होती हैं वे परिग्रहमें होती हैं। तुमने धर्मद्रव्यको परिग्रह बना लिया। धर्मद्रव्यके सम्बन्धमें जो इसने विकल्प बनाया, उनको अपना लिया, वही धर्मद्रव्य परिग्रह बन गया। इन द्रव्योंके सम्बन्धमें जो हम जानते हैं और उस जानकारी पर जो हम अहङ्कार बनाते हैं, उनको अपनाते हैं तो धर्मद्रव्य विषयक विकल्पोंको अपनानेका नाम है धर्मद्रव्यका परिग्रह। बाहरी परिग्रहोंमें भी हम क्या करते हैं ? जैसे धर्मद्रव्य हमारा कभी परिग्रह नहीं बन सकता तो क्या सोना चाँदी आदि कभी हमारा परिग्रह बन सकते हैं ? नहीं बन सकते, क्योंकि वे भी न्यारे पड़े हैं। सोने चाँदीके बारेमें जो भी हमारा विकल्प है वह परिग्रह है। तो धर्मादिक द्रव्योंके बारेमें जो हमारे विकल्प चलते हैं वे भी परिग्रह हैं। इस धन सम्पदासे हम अपनेमें एक महत्त्व अनुभव करते हैं। तो धर्मद्रव्य आदिक सूक्ष्मपदार्थोंके जाननेके कारण हम एक महत्त्व अनुभव करते हैं अर्थात् परिग्रही ही तो बनते जा रहे हैं। आत्मत्त्वके सिवाय अन्य किसी परभावमें आत्मीयता करने को परिग्रह कहते हैं। तो परभावोंमें अहङ्कारभाव उत्पन्न हो, वहाँ मृदुता नहीं आ सकती।

अन्य कषायोंकी भी मन्दताका सूचक मार्दव भाव धर्मका एक चिन्ह—मृदुता भी धर्मका एक चिन्ह (लक्षण) है। अब देखिये भली प्रकार क्षमा जिसमें आ गयी उसमें मृदुता भी आ गई या जिसमें भली प्रकार मृदुता आ आ गयी, पर भावसे हटकर जो निजस्वभाव अत्यन्त हितकर है ऐसा मानरहित विकाररहित स्वभावमें यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करने वाले पुरुषके मानकषाय नहीं हैं। मृदुता है, मार्दव है तो उसके क्षमा भी है। जैसे कोई कहे कि मेरे सिर्फ एक कषाय है, मान मैं करता नहीं, मायाचार भी नहीं करता, लोभ भी नहीं करता, हां क्रोध जरूर कभी कभी उमड़ पड़ता है। तो उसका यह कहना ठीक नहीं। जहाँ एक कषाय है वहाँ सभी कषायें हैं। जब नष्ट होंगी तो सभी नष्ट होंगी। भली प्रकार विधि विधान सहित कषायोंके अभावकी बात कही जा रही है। तो दशलक्षणमें दूसरा धर्म है मार्दव।

उत्तम आर्जवधर्म—तीसरा धर्म है आर्जव। सरलता, निष्कपटता, कोई गुत्थी नहीं, कोई कपट नहीं। कपट रखकर इस जीवको लाभ क्या होता। भावुकतामें निरन्तर अशांति रहती है। और वहां धर्मसूत्र का प्रवेश भी नहीं होता। किसलिये कपट करना? संसारमें कुछ भी बाह्य चीज, कोई पुद्गल आदिक कुछ भी तत्त्व इस आत्माके हितमें नहीं हैं। किस चीजके संचयके लिये किस दूसरेसे कपट किया जाये? कपटरहित भाव होना सो आर्जव भाव है। जहाँ स्वरूपका सम्यक् निर्णय है और प्रतीतिमें अपनी यथार्थता है ऐसा पुरुष कैसे कपटकी प्रवृत्ति करे? तो मन वचन काय सरल होना, मनमें कुछ और हो, वचन में कुछ और हो, करे कुछ और, ऐसी संक्लेशता न रहना इसका नाम है आर्जवधर्म। यह दशलक्षणका तीसरा धर्म है।

उत्तम शौच धर्म—लोभ कषायके त्यागका नाम शौचधर्म है। अपने आपको हैरान करने वाली ये कषाय ही तो हैं। बैठे-बैठे ही अपने आप दुःखी हो रहे हैं। कोई कषाय उठी तो अपनेमें आकुलता मचा रहे हैं। कषायोंमें विषय भी आया, लेकिन विषयकषाय कहनेकी जो एक पद्धति है। आत्माके अहित करने वाले विषयकषाय हैं। केवल कषाय कह देनेसे क्या विषय छूट गया? विषय लोभकषायमें गर्भित हो गया, लेकिन विषय भी ऐसी तीव्र कषाय है कि इन कषायोंके स्वरूपसे कुछ अलगसा जंचने लगा। अलग कुछ नहीं है। लोभकषायका इतना बड़ा पेटा है कि वर्णन करनेमें, उसका आश्रय बतानेमें, उसके नाना भाव भंगी दर्शानेमें जंचने लगता है कि लोभकषायसे भी विषय बहुत बड़ा है और वह इतना बड़ा हो गया कि प्रतिपादनमें भी विषयका नाम हम अलग लेते और क्रोध, मान, माया, लोभ कषायका नाम हम अलग लेते। किसी भी परपदार्थके प्रति आदेयताका भाव न बने और लोभकषाय तृष्णाकी बात न बने तो आप धर्ममार्गमें, तत्त्वाभ्यासमें अपना जीवन गुजरे ऐसी हमें शिक्षा और चर्याविधि रखनी चाहिए। इस क्षमा-मार्दवधर्मके व्याख्यानसे, इसकी चर्यासे, मननसे हम अपनेको निष्कषाय रखें ऐसा हमारा जीवन बने तो धर्मविकासकी हमें बड़ी सुगमता मिलती है।

धर्मस्वरूप—धर्म उसे कहते हैं जो संसारके जीवोंको दुःखसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुँचा दे। ऐसा धर्मका लक्षण जीवको एक धर्मकी दिशा बतलाता है। पर वह धर्म क्या है जिसके प्रतापसे दुःखोंसे छूटकर सुखमें पहुंच जाता है? उस धर्म की व्याख्यानमें बताया है—वस्तुस्वभावो धर्मः। जो वस्तुका स्वभाव है वह धर्म है। आत्माका स्वभाव चैतन्यभाव है, उसका आश्रय, अवलम्बन, अनुभव यह सब धर्मका पालन है। इतना कहने पर भी जब यथार्थ परिचय नहीं हो पाया धर्मका तो यह कह दीजिए—दशलक्षणोधर्मः। जिसमें दश लक्षण पाए जायें उसे कहते हैं धर्म। धर्म के १० भेद नहीं है, धर्म एक ही रूप है, पर उस धर्म के स्वभावके लक्षण दश हैं। दश चिन्होंसे हम धर्मको बात कर लेंगे और वे दश लक्षण ऐसे हैं कि एक लक्षणमें ही दशोंके दशों पाये जाते हैं। देखनेके लिये जब हम वहाँ दृष्टि बनाते हैं तब तो एक एक लक्षण मिलता है, परन्तु जिस धर्मकी पहिचान हम करने जा रहे हैं वह धर्म दशलक्षणरूप है, धर्म दश नहीं हैं। वे दश उसकी पहिचान हैं, इसी वजहसे तत्त्वार्थसूत्रमें उमास्वामो णद्वाराजने जो सूत्र कहा है धर्मका—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः

इसमें विशेषणोंको बहुवचनसे कहकर धर्मको एक वचनमें कहा है। इससे सिद्ध है कि धर्म १० नहीं हैं। धर्मके दश लक्षण हैं।

उत्तम सत्य धर्म—सर्वप्रथम बताया है क्षमा। क्रोधका अभाव सो क्षमा है। दूसरा लक्षण बताया है मार्दव। मान कषायका अभाव सो मार्दव। तीसरा कहा आर्जव। माया छल कपटका भाव न रहना आर्जव है। चौथा है शौच, पवित्रता। लोभकषायके अभावको शौच कहते हैं। आत्मामें चारों कषाय न रहें, चारों कषायोंकी प्रगटता नहीं है तब वहाँ सत्य प्रगट होता है। सत्य क्या है ? तो उसे यों समझा दीजिये, बता दीजिए कि जिस भाव में क्रोध मान माया लोभ नहीं। अब जो कुछ है बस वही सत्य है। यहाँ सत्य वचन बोलनेकाही मुख्य मतलब न लगायें। वहाँ सच्चाई क्या प्रकट हुई है, यथार्थता क्या है ? उसे निरखिये और जानिये। कषायोंके अभावसे जो आत्मामें स्वच्छता प्रकट हुई है, वही सच्चाई है और वही याने सत्य है।

उत्तम संयम धर्म – जब कषायोंका अभाव होकर ऐसा सत्यधर्म प्रकट होता है तब आत्माका संयम पूर्ण रूपसे बनता है। उपयोग अपने आधारभूत ज्ञानतत्त्वमें समाया रहे इसको संयम कहते हैं। देखिये आपका आत्मगुण है ज्ञान। ज्ञानका विकास करनेके लिए कोई बाहरमें बड़ा उद्यम नहीं करना है कि एक एक पदार्थका जानना शुरु कर दें। पहिलेके ज्ञानका संग्रह बनाया तो इस तरहसे सब नहीं जाना जा सकता, किन्तु बाह्यपदार्थोंके जाननेकी इच्छा ही छोड़ दें। मुझे क्या पड़ा है बाहरमें जाननेको ? उससे मेरा हित क्या है ? सर्वपदार्थ स्वतन्त्र हैं, पृथक हैं। किन्हीं भी पदार्थोंसे मेरे इस अमूर्त जीवास्तिकाय का कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है। यह मैं स्वयं हूं और अपने स्वरूपके कारण निरन्तर उत्पादव्ययरूप हुआ करता हूं। यह मैं सबसे निराला हूं। मुझे इन बाह्यवस्तुवोंके परिचयसे क्या पड़ा हुआ है ? जान लिया कि वहाँ ये लोग बसते हैं, यहां इतने नगर हैं, इतने द्वीप देश हैं, सब कुछ समझ लिया तो उस समझसे आत्माको कौनसा लाभ हुआ ? लाभ तो अनाकुलता को कहेंगे। जहाँ अनाकुलता हो उसे लाभ कहते हैं। तब मुझे बाहरकी वस्तुओंके जाननेका कुछ प्रयोजन नहीं। सबके जाननेकी बाञ्छाको छोड़ दें और सबके जाननेकी बाञ्छा छूटने पर खुद तो कभी छूट ही नहीं सकता है। खुद तो खुद ही है याने स्वय स्वयं ही है।

ज्ञानकी भी आकांक्षामें ज्ञानका अविकास—अगर बाह्यके सबको जाननेकी प्रक्रिया छोड़ दे तो खुदका जानना सो स्वयं हुआ ही करेगा। उसे छोड़कर जायेगा कहाँ ? ज्ञान हमारा है तो वह परिणमन सदा चलता रहेगा। तो इस विधि से हम अपने आपमें अपना संयम प्राप्त कर लेते हैं। हमने बाहरमें कुछ भी नहीं जाना। जहाँ हमने सारे विकल्प तोड़ दिये, अन्य लोगोंकी दृष्टिमें लो हम बुद्धू बन गए, हमारा कहीं प्रयोजन नहीं अपने आपमें मग्न हो गये तो इस एकत्व मग्नताके प्रतापसे आत्मामें स्वयं ऐसा विकास बनता है कि वह समस्त विश्व को जान जाये। हम समस्त पदार्थों को जानने का लोभ बना बनाकर हम विश्वको कभी नहीं जान सकते, किन्तु विश्वको जाननेकी आकांक्षा छोड़कर अपने आपमें मग्न होनेके उपायसे हम चाहें नहीं कि विश्वज्ञानमें आये, मगर जो ज्ञान केन्द्रित हो जाए, अपने स्वरूपमें मग्न हो जाए तो स्वयं ही सर्वज्ञता प्रगट होती है, समस्त विश्वका ज्ञान बनता है। सो समस्त विश्वका ज्ञान बने चाहे न बने, उसमें हमें क्या प्रयोजन ? मुझे तो अपने आपके यथार्थस्वरूपका ज्ञान बना रहे, एक यही रुचि है। ज्ञानी जीवकी अपने सहज ज्ञानभावकी ही रुचि हुआ करती है। मुझे विश्वके जाननेमें लाभ नहीं है और विश्वके जाननेका लक्ष्य करके धर्मपालन करें तो धर्मपालन बन भी नहीं सकता, क्योंकि जिसके उपयोगमें बाह्यपदार्थोंकी दृष्टि बसी है, बाह्यपदार्थोंमें कुछ आकांक्षा करता है उसके धर्मका आश्रय ही नहीं है, धर्मपालन ही नहीं है। धर्मपालन है अपने आपमें मात्र चित्प्रकाशका अनुभव करने में ही।

सम्यक्त्वके बिना व्रत तप आदिका मूल्य—देखिये जहाँ ये चर्चायें आती हैं ग्रन्थोंमें कि द्रव्यलिंगी साधु इतनी ऊंची तपस्या करते हैं कि कदाचित कोई शत्रु उस साधुको कोल्हूमें भी पेल दे तो वह उस शत्रु पर बैर नहीं करता। समतापरिणाम रखता है इतना उत्कृष्ट तपश्चरण करने पर भी क्या चीज ऐसी रह जाती है जिसके कारण

उसके मिथ्यात्वका क्षय नहीं हो पाता और संसारसे तिर नहीं पाता ? अरे उस साधुने अपनेको पर्यायरूप अनुभव किया है। जो अपनेको पर्यायमात्र अनुभव करे, पर्यायको ही निज पर्याय समझे उसका ही तो नाम मिथ्यात्व है। अब और आगे चलिए। जो अपनेको केवल यह कह रहा हो कि मैं यह हूं (देहको निरखकर) तो उसे आप पर्यायबुद्धि वाला कहेंगे ना ? कोई अपनेको मैं क्रोधी हूं, मानी हूं, उदार हूं, परोपकारी हूं आदिकरूपमें अनुभव करे तो उसे कहेंगे ना मिथ्यात्व ? कहेंगे। कोई यों सोचे कि मैं श्रावक हूं, मुझे इस इस तरहसे खाना पीना चाहिये, मैंने श्रावक-व्रत लिया है, मैं श्रावक हूं। देखो जो अव्रती जीव हैं उनसे मैं कितना श्रेष्ठ हूं, कितना भला हूं ? तो उसने भी श्रावकपरिणतिको ही आत्मसर्वस्व माना कि नहीं ? इसी प्रकार कोई अपनेमें ऐसी बुद्धि बनाये कि मैं साधु हूं, यह हूं साधु (इस शरीरको निरखकर), मैंने समताका नियम लिया है अमुक आचार्यके सामने कि शत्रु पर द्वेष नहीं करना चाहिये। शत्रु पर द्वेष न करेंगे तो हमने यह साधु धर्म अच्छा निभाया, इसके प्रतापसे हम निर्वाण प्राप्त करेंगे। देखो बातें तो अच्छी सोच रहा, पर इस शरीरको ही यह मैं हूं ऐसी प्रतीति रखकर आत्मसर्वस्व मानने की जो भीतर में एक धुनी है अथवा लगन है तो यह प्रतीतिमें आत्मसर्वस्व मान गया है, इसलिये यह मिथ्यात्वका अंश हुआ या नहीं ? बस इस ही कारण वह रुक जाता है। जबकि चाहिये क्या था ? अपने को चित्प्रकाशमात्र हूं ऐसा मानता, न कि मैं साधु हूं। मैं श्रावक हूं, मैं व्यापारी हूं, मैं अमुक हूं, मैं तो सबसे निराला एक आत्मतत्त्वमात्र हूं। जो सबमें समान है। सबसे फिर मुझमें विलक्षणता क्या है साधुपन आदिको। सब एक हैं। ऐसे चित्प्रकाशमात्र अनुभवमें आत्मा का संयमन होता है और आत्मसंयमनके प्रतापसे आत्माके गुणोंका पूर्णविकास होता है।

सम्यक्त्वके प्रसङ्गमें देव शास्त्र गुरुका आलम्बन—देखिए हम आप सबको प्रथम अवस्थामें देव शास्त्र गुरुका आलम्बन ही तो सहाय है। हम कहाँसे सीखें, कैसे जानें अन्तस्तत्त्वकी बात, ७ तत्त्वोंकी बात ? तो यह हमें अरहंतदेवके मूलप्रसादसे प्राप्त होता है। जिन्हें हमारे गुरुजनोंने जो निर्ग्रंथ दिगम्बर थे, कारण कि उन्हें अन्य किसी वस्तुसे प्रयोजन न था और देहको छोड़ते कैसे ? सो निर्ग्रंथचर्यामें रहकर अपने मूलगुणोंका पालन करके, व्यवहार धर्म का पालन करके और निश्चय धर्मका लक्ष्य आश्रय बनाकर जो उन्होंने अनुभव प्राप्त किया वह सब अनुभव अपने ग्रन्थोंमें लिख गये, उनका हम कितना विशेष उपकार मानें उसके लिए न शब्द हैं न कोई प्रक्रिया है। हम उनके बड़े आभारी हैं जिनके उपदेशको प्राप्त करके हमने समझा है कि यह मैं आत्मा सबसे निराला स्वतन्त्र परिपूर्ण एक स्वयं प्रभु हूं। इस कारण समयसारका परिचय हमें जिनके चरणोंके प्रसादसे प्राप्त हुआ है उन गुरुओंके हम आभारी हैं। तो देव शास्त्र गुरु इन तीनोंका हमको कितना बड़ा भारी अवलम्बन हुआ है और जितने रूपमें हमें इनको संगति प्राप्त होती है, करें। जैसे आज हमें देव के प्रतिबिम्बके रूपमें देवों की संगति प्राप्त होती है। साक्षात् दर्शन इस समय अरिहंतके नहीं हैं, शास्त्रोंकी तो बहुलता है। गुरुवोंकी खोज करें तो वे अब भी हमको प्राप्त हो सकते हैं, उनकी संगति भी हमें मिलसकती है जो कि विषयोंकी आशासे रहित हैं, आरम्भ परिग्रहमें जिनकी धुनि नहीं है, ज्ञान ध्यान तपश्चरणमें रत रहते हैं ऐसे गुरुजन तो पञ्चमकालके अन्त तक मिलेंगे। खोज करने पर उनकी भी संगति प्राप्त होती है। तो जो कुछ भी हमें आज प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग करें, जीवनमें लायें और सदुपयोग यही है कि हम आत्मसंयम प्राप्त करें। तो यही है संयमधर्म।

उत्तम तप और त्याग—संयमधर्मके प्रतापसे एक ऐसा तप उत्पन्न होता है, चैतन्य प्रतपन होता है कि जिस चैतन्य प्रतपनमें यह कला है कि जो मुझमें नहीं है उसको यहाँ न रहने दें, जला दें, दूर कर दें अर्थात् आत्माका जो विभाव परिणमन है, हो रहे हैं ये विभाव, पर आत्माकी चीज नहीं हैं, स्वभाव नहीं है। परिणमन तो है, उस रूप ही आत्मा नहीं है, क्योंकि यह कर्मोदयका, परोपाधिका निमित्त पाकर हुआ है, क्षणिक है। देखिये रूप है, स्वभावके विरुद्ध है, जड़ता लिये हुए है। उस चैतन्य प्रतपनके प्रसादसे ये समस्त विभावमल दूर हो सकते हैं। तो इसीके मायने त्याग है।

धर्मके ये दशलक्षण जिस क्रमसे बताये गये हैं यह एक आत्मविज्ञानकी बातको भी सूचित करता है।

आत्मार्थी पुरुष क्रोधको छोड़े तो बुद्धि व्यवस्थित रहे, अपने आपको ठीक समझे फिर मान कषाय कहाँ रहेगी ? क्रोध और मान ये दोनों ऐसे द्वेष कषाय हैं कि जिनमें रहकर बुद्धि कम हो जाती है, विवेक नहीं रहता। चारों कषायोंमें क्रोध मान तो द्वेषरूप हैं और माया लोभ रागरूप हैं। क्रोध मान हटने पर कुछ विवेक हमने किया तो हमारा लोभ और मायाकषाय भी दूर हो। क्या लोभ करना, किस पदार्थका संचय करना, किसके लिये मायाचार करना। यों चारों कषायें जब शान्त होती हैं तो आत्मामें सत्यधर्म प्रकट होता है और फिर आत्मसंयम बनता है। जैसे एक आरसीका कांच होता है उसे पानी लगाकर खूब साफ कर दिया जाये और सूर्यकी किरणोंके सामने रखा जाये तो किरणोंके केन्द्रित होनेसे उसके नीचे पड़ी हुई रूई अथवा कागज आदि जल जाते हैं और राख बनकर उड़ जाते हैं, वहाँ कुछ नहीं रह जाता। वह रह जाता है अकिञ्चन, निर्भार। इसी प्रकार आत्माके इस ज्ञानके फैलावको जो नाना वस्तुवों को आत्मा जान रहा है, भटक रहा है, बोलता है उन ज्ञानकिरणोंको अगर हम अपनी इस आत्मभूमिमें संयमन कर लें, किरणें रोक लें तो उस संयमके प्रसादसे इसमें चैतन्य प्रतपन प्रकट होता है कि जिसके प्रसादसे राग द्वेष आदिक जितने भी अन्तर्मल हैं वे सब जल जाते हैं। बाह्यमल भी निर्जीर्ण हो जाते हैं, समस्त परतत्त्वोंका त्याग हो जाता है। वहाँ फिर कुछ भी बाहरी बात नहीं रहती। केवल अकिञ्चन निर्भार रहता है। पहिले बाहरी बातोंके रहते हुए हम सब कुछ समझते थे, आत्मा भरा पूरा है। कुछ वजनदारसा लगता था। अब मल दूर हो गये, राग द्वेषादि दूर हो गये, यहाँ देखनेको तो कुछ भी नहीं मिल रहा, लौकिक दृष्टिसे बात कही जा रही है। वहाँ आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है। अब वर्णन कर रहे हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य—आकिञ्चन्यकी बड़ी महिमा है। जो मनुष्य अपनेको आकिञ्चनरूप अनुभव करता है, मेरा बाहरमें कहीं कुछ नहीं है, मेरा कोई सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं है, मेरा किसीसे सम्बन्ध ही नहीं है। मैं अपने सत्त्वमें परिपूर्ण हूं। जगतके समस्त पदार्थ अपने अपने सत्त्वसे परिपूर्ण हैं। मैं स्वयंमें अधूरा नहीं हूं। विकार रहा वहां भी परिपूर्ण है। अविकार रहा वहां भी परिपूर्ण है। पदार्थमें अपरिपूर्णता कभी नहीं रहती। पदार्थ चाहे सारा बिगड़ जाये, पर वह है तो परिपूर्ण। सर्वअवस्थावोंमें प्रत्येक सत् परिपूर्ण रहा करते हैं। यह मैं परिपूर्ण हूँ और जो प्रभु है, विशुद्ध चित्प्रकाश है, सर्वमलोंसे दूर है, वह भी परिपूर्ण है। देखो उस मुझ परिपूर्ण तत्त्वसे जो भी पर्याय प्रकट होती है वह भी परिपूर्ण है। परिपूर्ण ही प्रयोजन बनता है और परिपूर्ण ही एक साथ विलीन होता है। नवीन पर्याय बनती है तो पूर्ण बनती है। तो इस पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है और यह पूर्ण जो कि उत्पन्न हुआ यह पूर्ण भी पूर्णमें विलीन हो जाता है और वह सब पूर्ण विलीन होकर भी यहां यह पूर्णका पूर्ण ही शेष रहता है। ऐसा यह मैं परिपूर्ण जो सहज है ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूं, अकिञ्चन हूं। मेरेमें बाहरका कहीं कुछ भी नहीं है, न है, न होगा। अज्ञानी जीव अपनेको सकिञ्चन मानकर अपनेको न कुछ बना रहे हैं। आकुलित रहते हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ रहते हैं। अपनेको सकिञ्चन मानकर अन्तमें पछतावा ही वहां शेष रहता है।

कुछकी हठमें कोयला हाथ—कुछकी इच्छा करना अपनेको बरबाद करना है। एक नाईने सेठकी हजामत बनायी। तो सेठ था डरपोक। जब वह गले पर छुरा लाया तो सेठने सोचा कि इस समय तो प्राण इसीके हाथ हैं। जरासा छुरा चला दे तो क्या हो ? देखिये कोई बिरला ही ऐसा सोचता है अन्यथा तो सभी लोग निर्भय होकर नाईके आगे अपना शिर रख देते हैं। नाई पर लोग तो इतना विश्वास करते हैं कि जितना कोई अपने गुरु पर भी नहीं कर सकता। लेकिन जब मनमें एक ऐसी बात आ गई तो सेठ कहता है कि देखो खवासजी ! अच्छी तरहसे हजामत बनाना, हम तुमको कुछ देंगे। जब वह हजामत बना चुका तो सेठजी उसे चवन्नी देने लगे। तो उसने कहा हम चवन्नी न लेंगे। सेठ १) देने लगा तो फिर नाई बोला कि हम १) न लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। अशर्फी देने लगा तो उसे भी लेनेसे मना किया। वह तो कुछकी हठमें पड़ गया। नाई सोचता था कि सेठजी कुछ पुरस्कार देंगे। अब सेठ तंग आ गया और भूख प्यास भी लगी तो नाईसे सेठने कहा कि अच्छा, उस आलेसे वह दूध भरा गिलास उठा

देना। उसने ज्यों ही उस गिलासको उठाया और गिलासमें देखा तो उसमें पड़ा था कुछ। सो झट बोल उठा कि सेठजी इसमें तो कुछ पड़ा है। तो सेठ बोला कि कुछ पड़ा है तो तू उसे ले जा। तो उसके हाथ क्या लगा? कोयला। तो जैसे उस नाईको कुछकी हठमें कोयला मिला, इसी तरह जो लोग यहां पर पदार्थोंमें अपनी हठ बनाये हुए हैं। उन्हें कुछ हाथ नहीं लगता है, खाली हाथ ही रहना पड़ता है। अन्तमें मिलता है पछतावा।

श्रावकोंका दैनिक कर्तव्य—सीधीसी बात है श्रावकोंको जो बतायी गयी है कि अपने आत्माकी यथार्थ प्रतीति रखें और श्रावकोंके योग्य जो कुछ गुरुजनोंने बताया है, उस अपनी क्रिया प्रक्रियामें रहें। षट्कर्मोंका उपदेश है—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। देखिये जिन व्यवहारधर्मोंका सम्बन्ध निश्चय धर्मका लक्ष्य करानेके लिये होता है वह व्यवहार धर्म धर्म है, पालन करने योग्य है। हम इन ६ कर्मोंका पालन करके अपने लक्ष्य पर ही तो रहते हैं। देवपूजामें भगवानके स्वरूपकी भक्ति करते, उनका पूजन करते। तो उनका स्वरूप मेरे स्वरूपके समान है, वह व्यक्त है. हममें शक्तिरूप है। स्वरूप एक है। जैसा स्वभावसे आत्मतत्त्वका निर्माण है, अनादि से वही स्वभाव उनमें है और वही मुझमें है। उनके स्वरूपका चिंतन करनेमें अपने स्वरूपकी सुध होती है और सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। श्रावकों के षटक्रियावोंकी बात कह रहे हैं गुरूपासनामें गुरुवोंकी ओर हमारी दृष्टि लगी है। गुरु कौन हैं? जो गुणी हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमें बढ़े हैं, जिनकी धुनि आत्मतत्त्वमें लगी है, जिनका निर्ग्रंथस्वरूप बना है और जीवन चलानेके लिये प्रवृत्ति करनी पड़ती है तो समितिपूर्वक की जाती है। २८ मूल गुणों के रूपमें उनका शील पुष्ट होता है। ऐसे गुरुजनोंकी उपासना करते हैं तो वहां उनके चारित्रका शिक्षण ही तो मिल रहा, हमारा परिणाम ज्ञान और वैराग्यकी ओर ही तो बढ़ रहा। स्वाध्याय में तत्त्वाभ्यास ही बन रहा, यथार्थस्वरूप का चिंतन चल रहा है, यह सब तो हमारे गुणोंकी वृद्धिके लिये है। संयममें तो हम अपने आपके बहुत निकट आ जाते हैं। बाह्यविकल्पोंसे छूटकर थोड़ा इन विकल्पोंसे जो रहित प्रक्रिया है श्रावककी। वह इसलिये है कि हममें ऐसी पात्रता बनी रहे कि यह आत्मदर्शन बराबर कर सकें, अपनी शक्तिके अनुसार इच्छा निरोध तप करना चाहिये और प्रतिदिनका यह कर्तव्य है सो शक्ति अनुसार दान करना चाहिये, जिससे लोभ कषाय दूर हो और आत्मीय गुणोंमें प्रगति हो। दृष्टि हो, लगाव हो तो ये षट्कर्म श्रावकके कर्तव्य हैं, इनको करते रहें।

जीविकाव्यवहारमें औचित्य—भैया! अब रही आजीविकाकी बात। सो देखिये—जिसको जितना जो कुछ प्राप्त हुआ है उसे समझो कि जरूरतसे ज्यादा मिला है। हमको इतनेकी क्या जरूरत थी? हमें तो ये जो क्षुधा, तृषा, शीत और उष्ण आदिकी वेदनायें लगी हैं। इनको मिटानेके लिये सिर्फ रोटी कपड़े की जरूरत है, हमें और कुछ न चाहिये। हमें जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीमें संतोष करें और उसीमें अपने प्रयोज्य विभाजन करें। करने का मुख्य काम तो तत्त्वाभ्यासका है, यह तत्त्वाभ्यास हमें कल्याणमें पहुंचा देगा। तो इस तरहका जीवन बने। यहां प्रकरणमें दशलक्षणधर्म बताये जा रहे। यद्यपि वे कर्तव्य मुख्यतया मुनियोंके हैं, लेकिन श्रावकके प्रसंगकी यह बात चल रही है कि श्रावकोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार इन दश धर्मोंका पालन करना चाहिये। यहां अकिञ्चन व्रतका वर्णन है। मेरा बाहरमें कहीं कुछ नहीं है। मेरा जो कुछ है वह कभी छूट नहीं सकता। मेरा जो कुछ नहीं है वह कभी मुझमें आ नहीं सकता। हां अज्ञान अवस्थामें, राग अवस्थामें निमित्त विभाव परिणमन आ रहे हैं सो उन्हें अपनाता नहीं है यह ज्ञानी। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। ऐसा निर्णय करके अपने आपमें अपने आपके विभावोंको ही अनुभवता है। जहां अकिञ्चन गुण प्रकट हो तब वहां आ गया ब्रह्मचर्य। अपने आपके स्वरूपमें लीन हो जाना इसका नाम है ब्रह्मचर्य।

श्रावकों द्वारा दशलक्षण धर्मका शक्त्यनुसार पालन—ये दश धर्म मुनिजन विशेषरूपसे करते हैं, पर श्रावकोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार इन दश धर्मोंमें धर्मरूप अपनी प्रगति बनानी चाहिये। हम क्रोध पर विजय करें। जरा जरासी अनुकूल प्रतिकूल बातोंमें रागद्वेषको बढ़ावा न दें। अपने आपमें अभिमान की चीज है ही क्या?

ज्ञानमें बढ़ना ? गणधर आदिक देवोंको देखो कि उन्होंने कितना ज्ञान प्राप्त करा ? धनमें बढ़े चक्रवर्ती आदिकको निरखो। अपने पास सम्पदा क्या है ? अभिमानके लायक यहां क्या वस्तु है ? मान न करें। ऐसा सरल रहें कि गरीबसे, बिना पढ़े लिखेसे लगें। सबके साथ ऐसा साधारण व्यवहार हो कि अपनी निगाहमें अन्य किसीको तुच्छ न गिनें। मायाचारसे कोई सिद्धि नहीं है। जो यथार्थ बात है उस ही रूप आचरण रहे। धर्मके प्रसंगमें आयें तो उसमें अपनी उदारता बनी रहे। यों अपना जीवन मन्द कषायरूप रहे तो वहां पुण्य लाभ तो होता ही है। उसके अन्दर ज्ञान और वैराग्यकी जड़ होनेसे धर्मलाभ भी हो रहा है। तो यों श्रावक इन दश धर्मोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार पालन करे। ऐसा श्रावकाचारके प्रसंगमें आचार्यदेव उपदेश कर रहे हैं।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अनुप्रेक्ष्य अनित्य भावना—परिणामोंकी विशुद्धिके लिये जैनशासनमें बारह अनुप्रेच्छावोंका उपदेश है। इन बारह भावनाओंको महाव्रती मुनि को अपनी समताकी वृद्धिके लिये चिन्तवन करना चाहिये। बारह भावनाओंमें पहिली भावना है अनित्य भावना। संसारमें जितने भी पदार्थ दिखते हैं, जो भी समागमोंमें में आये हैं वे सब विनाशक हैं अर्थात् पदार्थोंकी पर्याय अध्रुव है। जो चीज अध्रुव है, सदा नहीं रहती उस पदार्थसे प्रीति करके आत्माको लाभ कुछ नहीं है। यह देह भी अध्रुव है, धन वैभव भी अध्रुव है, गृहनिवास, और और भी ये प्रक्रिया, पोजीशन, ये सारी बातें अध्रुव हैं, किन्तु इन सब पदार्थोंका जो मूल कारण है, जैसे इन दिखने वाले पदार्थोंमें मूल कारण है परमाणु। परमाणु अध्रुव नहीं अर्थात् अणु द्रव्य सदा रहने वाला है। इसी प्रकार इस जीवमें जो ये पर्यायें दिख रही हैं पशु पक्षी मनुष्य आदिक, ये पर्यायें तो अध्रुव हैं, पर इनमें जो मूल आत्मा है वह जीव अध्रुव भी है। जीवत्व सदा रहता है। तो द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। ऐसा जानकर समागमकी बात पर्यायमें आया करती है। तो समग्र पदार्थोंको अनित्य जानकर उनसे प्रीति हटाना और निज जो आत्मतत्त्व है, चैतन्य स्वभाव है ज्ञानानन्दस्वरूप, उसे नित्य जानकर सदैव अपने आपमें रहता है ऐसा शाश्वत सनातन परम उपकारी जानकार उसका आलम्बन लेना चाहिये, अपने आत्मस्वरूप पर दृष्टि लेना चाहिये। अध्रुव भावनामें भावना यद्यपि भायी जा रही है कि ये सारे समागम, बड़े बड़े राजपाट, बड़े बड़े वैभव—ये सब विनाशक हैं। भावना अनित्यकी भायी गई, पर इसके अन्दरमें जो नित्यतत्त्व है अपना स्वरूप, उसकी भी भावना भानी चाहिये, क्योंकि अगर आनेमें बसे हुए नित्यस्वरूपकी भावना तो की नहीं और बाहरी पदार्थोंको ये अनित्य हैं, मरेंगे मरेंगे तो ऐसा सोचनेसे लाभ कुछ न मिलेगा। ये तो सब मरेंगे, विनाशक हैं, नष्ट होंगे, परन्तु यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप, यह मैं आत्मा, यह मैं कभी नष्ट नहीं होनेका। अन्तस्तत्त्वमें ध्रुव और पर्यायमें अध्रुव भावना करना।

अशरण भावना—दूसरी भावना है अशरण भावना। लोकमें मेरा कहीं कोई शरण नहीं है। इस बात को ज्यादा बतानेकी यों जरूरत नहीं कि सब पर बीत रही है। बचपनमें किन किनका सहारा लिया ? वे कुछ हैं भी नहीं अथवा जब भी थे और उनका सहारा लेते थे, तब हम जो चाहते थे उसकी मनोकामना के अनुसार पूर्ति कर दें ऐसा कभी नहीं हुआ। जब बड़े हुए तो अनेक प्रसंग आये। आजीविका रिस्तेदार आदिकके प्रसंग चले, घर कुटुम्ब का व्यवहार चला तो कषाय सबकी जुदी जुदी है। प्रत्येक पुरुष अपनी कषायको शान्त करना चाहता है। कोई किसी का प्रेमी नहीं है। कोई किसीका कल्याणकारी नहीं है। सभी जीव अपनी वेदनाकी शान्तिके प्रयत्नमें लगे हैं। तो जो भी समागम आये, लोग अपनी ही वेदना की शान्तिमें रहते थे। कोई किसीका सहाय नहीं होता। प्रश्न यह है कि इस लोकमें कोई किसीका शरण नहीं है क्या ? तो समाधान यह है कि व्यवहारमें शरण पंचपरमेष्ठी है और परमार्थमें शरण अपने आत्मस्वभावका आलम्बन है। पंचपरमेष्ठी क्यों शरण है ? कि परमेष्ठी वीतरागताका रूप है। सबसे प्रथम साधुपरमेष्ठी होते हैं। साधुपरमेष्ठी वीतरागताकी मूर्ति हैं। जिसके बाह्यमें आरम्भ परिग्रहका कोई प्रयोजन

नहीं रहा और अन्तरमें अपने आपका एक चैतन्यमात्र अनुभव करनेकी धुनि लगी है ऐसा पुरुष पवित्र आत्मा है, समता का पुञ्ज है। मित्र हो या शत्रु हो— दोनोंमें स्वभावका सम्बन्ध रहता है। उनके सर्वत्र समतापरिणाम रहता है। चाहे प्रशंसा कोई करे, चाहे निन्दा करो चाहे अर्घ चढ़ाये, चाहे चाकूसे कोई देह छीले, उनके न किसीमें राग है और न किसीमें द्वेष है। ऐसे वीतराग साधुके गुणोंका स्मरण रखनेसे, उनका स्तवन करनेसे, उनकी संगति रखनेसे आत्मा में एक वीतरागताकी ओर मुड़ाव होता है और अब हम कुछ राग भावको कम करते हैं।

वीतरागताकी शरण्यता— वीतराग भावोंकी ओर आते हैं तो हमें शांति मिलती है। वास्तवमें शरण जीवका वीतरागता है, अन्य कुछ शरण नहीं। धन मिला और राग बढ़ा तो उसमें आकुलता ही है। ज्ञान बढ़ा और उसमें राग रहा। मैं पण्डित हूं, इतना समझदार हूँ, मैं सबकी बातका उत्तर देता हूं, मेरी बात कहीं रह न जाये— ऐसे अनेक विकल्प उठते हैं और उन विकल्पोंमें यह ज्ञानी भी जिसने लौकिक विद्याका सञ्चय किया है, घबराहटमें रहता है, बेचैन रहता है। तो बाहरमें कहाँ क्या शरण है? शरण है तो अपने वीतराग भावका आलम्बन शरण है। आचार्यपरमेष्ठी भी साधु हैं जो अनेक साधुजनोंका कल्याण करते हैं, उन्हें प्रायश्चित दें, दीक्षा शिक्षा दें तिस पर भी अपनी समतासे च्युत नहीं होते हैं। ऐसे वीतराग आचार्यपरमेष्ठी उनके गुण स्मरणसे आत्माको शांति मिलती है। उपाध्यायपरमेष्ठी तो ज्ञानके सागर हैं। ११ अंग १४ पूर्वका जिनके ज्ञान है, जो निरन्तर पठन पाठनमें ही अपना समय व्यतीत करते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठीका समागम रहे, उनका स्मरण रहे तो आत्माको शांति प्राप्त होती है। देखिये जिनके राग है उन्हें बड़ी सुख सुविधा भी मिले तो भी उनके आत्माको शांति नहीं मिलती और जो वीतराग भावोंके प्रेमी हैं ऐसे साधु संतजनोंसे कुछ मिलता नहीं है, न भोजन मिले, न धन मिलता, फिर भी उनके चरणोंके निकट रहनेमें आत्माको शांति प्राप्त होती है। शांति वीतरागतामें है। वीतराग पुरुषोंके निकट बैठनेमें वीतरागताकी बात मिलती है जिसके कारण शांति होती है। तो तीन परमेष्ठी हैं गुरु— आचार्य, उपाध्याय और साधु। दो परमेष्ठी हैं देव— अरहंत और सिद्ध। अरहंत पूर्ण वीतराग है, लोकालोकके जाननहार हैं, आत्माके गुणोंका वहां पूर्ण विकास हुआ है, उनके गुणोंका ख्याल करनेसे अपने स्वरूपका स्मरण होता है, राग द्वेष मोह कटता है अर्थात् वीतरागताका भी उदय होता है। यों अरहंत परमेष्ठीके गुणस्मरणके प्रतापसे वीतरागताकी प्राप्ति होती है। अतएव अरहंतपरमेष्ठी भी शरण हैं। अब दूसरे देव हैं सिद्धदेव। अरहंतदेवके तो चार अघातियाकर्म रहते हैं और सिद्धके वे चार अघातिया कर्म भी नहीं रहे, वे केवलज्ञानमें पूर्ण आनन्दमग्न हो गये। प्रभुका जब ध्यान होता है तो आत्माको अपूर्व शान्ति होती है। ये सिद्ध भगवान विकलपरमात्मा कहलाते हैं। तो हमारे लिये शरण व्यवहारमें तो हैं पञ्चपरमेष्ठी और परमार्थसे है अपने आत्मस्वरूपका स्मरण। तो बाहरमें सर्वपदार्थोंके प्रति शरण की भावना करना और अपने आपमें शुद्ध सनातन जो चैतन्यस्वभाव है उसके दर्शनमें शरणकी भावना करना यह अशरण भावनाका प्रयोजन है।

अनुप्रेक्ष्य एकत्वभावना— तीसरी भावना है इस शास्त्रके अनुसार एकत्व भावना। यह जीव अकेला ही कर्मबन्ध करता है, अकेला ही कर्मफल भोगता है और अकेला ही जन्म मरण करता है, यह आत्मा सर्वत्र अकेला है, सर्वपदार्थोंसे निराला है और केवल आत्मा के स्वरूपरूप है। यह आत्मा एकत्वविभक्तरूप है। आत्माको व्यवहारमें अकेला निरखना, परमार्थमें एकत्व निरखना सो एकत्व भावना है। इस एकत्वकी भावनासे आत्माका मोह गल जाता है, मेरा तो मैं ही अनुभव करने वाला हूं, दूसरे लोग कैसा ही बोलें, कैसी ही प्रवृत्ति करें, उससे मेरे आत्माको कोई लाभकी बात नहीं होती। मैं अकेला ही हूं, ऐसे अकेलेपन की भावना करना सो एकत्व भावना है और परमार्थमें यह एक अखण्ड चैतन्य प्रकाशमात्र है। यह अपने स्वरूपमें ऐसा एकत्वस्वरूपका चिंतन करना सो एकत्व भावना है।

अनुप्रेक्ष्य अन्यत्वभावना— चौथी भावना है अन्यत्व भावना। समस्त पदार्थ जो मेरे समागममें आयें वे मुझसे भिन्न हैं। धन वैभव मकान महल आदि तो प्रकट भिन्न हैं, कुटुम्ब परिवार मित्रजन भी प्रकट भिन्न हैं, आपके साथ चिपके नहीं हैं, आप यहां अकेले हैं और लोग जहां हैं तहां ही हैं। तो प्रकट भिन्न कुटुम्ब आदिकसे भी यह

आत्मा है और यह आत्मा है और यह आत्मा देहसे भी भिन्न है। देहकी भिन्नता मोटेरूपमें लोगों के ध्यान में नहीं आती, क्योंकि देखते हैं कि जब तक जीवन है तब तक देहसहित ही तो है। देहसे रहित तो लोग तब समझ पाते हैं जब आत्मा देहसे निकल जाता है। लेकिन ज्ञानी पुरुष तो इस जीवनमें भी इस देहसे निराले अपने आत्माके स्वरूपको परख लेते हैं। देह जड़ है मैं चेतन हूँ। देह रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका पिंड है। यह मैं आत्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिकसे रहित हूं ऐसा अपने आपके स्वरूपका स्मरण करके ज्ञानी पुरुष जीवन अवस्थामें भी देहसे अपनेको निराला निरख लेते हैं। निराला निरखनेमें निमित्त दृष्टि नहीं रहती, बाह्यका आलम्बन नहीं रहता। तो उसके रागद्वेष भाव भी नहीं होते, क्षीण हो जाते हैं, उसे मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

अनुप्रेक्ष्य अशुचि भावना—५ वीं भावना है अशुचि भावना। यह देह मल मूत्र हड्डी रुधिर आदिक अपवित्र धातुओंसे भरा हुआ है। इस देहमें कोई सारकी बात है ही नहीं। लोकव्यवहारकी दृष्टिसे पशुओं के देहमें फिर भी कुछ सारकी बात मिल जाती है। गाय बैल भैंस आदिके चमड़ेसे जूते बनते हैं जो कि पहिननेके काम आते हैं और हाथीके मस्तकसे गजमोती प्राप्त कर लेते हैं, हाथीके दांतसे कई आभूषण या वस्तु बनती हैं, जिससे एक आजीविकाका काम बनता है। तो पशुओंके देहमें तो कुछ सारभूत बात भी निकल आती है, पर यह मनुष्यका देह किसी भी काम नहीं आता। इस मनुष्यके मरने पर तो लोग जल्दी ही चाहते हैं कि इसको यहाँसे जल्दी बाहर किया जाये। यह सारा शरीर अपवित्र है। इसमें क्या ममता करना, इसमें क्या अनुराग करना? किंतु इस देहके अन्दर बसा हुआ एक आत्मा जो चैतन्यमात्रस्वरूपको लिये हुए है वह शुचि है, पवित्र है, उसका आश्रय करनेसे आत्मामें शुद्ध पर्याय प्रकट होती है। तो अपने अन्त: बसे हुए चैतन्य तत्त्वको शुचि मानना और इस देहको जिसके प्रसंगमें हम रहते हैं, उसे अशुचि सोचना, इस प्रकार बराबर देहमें अशुचिपनेकी भावना करना सो अशुचि भावना है। लोग तो नाली, मल, मूत्र, गन्दगी आदिकको देखकर घृणा करते हैं, लेकिन ये चीजें घृणा की जाने योग्य नहीं हैं। ये सब चीजें उत्पन्न होती हैं मोह परिणाम करके। तो यह मोह सबसे गन्दी चीज है, घृणा करने योग्य चीज है मोह। ममताको बसाकर अगर अपना जीवन व्यतीत किया तो संसारमेंमें जन्ममरणकी परम्परा चलती रहेगी। तो ये जन्ममरण क्यों हो रहे? ये हो रहे हैं मोह भावके कारण। तो देखिये कि अपनेमें मोह बसा है तो कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध से ही यह संसार चलता है। ज्ञानी जीव इस मोह से, इन रागदिक विभावपरिणामोंसे ग्लानि करता है। अपना जो शुचि पवित्र आत्मा है उसकी उपासना करना सो अशुचि भावनाका प्रयोजन है।

अनुप्रेक्ष्य आस्रव भावना—छटी भावनाका नाम है आस्रव भावना। जब जीव मन वचन कायका प्रवर्तन करता है, कषाय जगती हैं तो कषाय और योग इन दोनोंके कारण जीवके आस्रव और बंध होते हैं, कर्म आते हैं। रागादिक विभावका आना सो तो है अन्तरंग आस्रव और पौद्गलिक कर्मोंका आना सो है बहिरंग आस्रव। यों दोनों प्रकारके कर्मोंका आस्रव होता है। यह आस्रव दु:खदायी है। सो आस्रव रहित रागद्वेषरहित आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूपका आश्रय लेवें तो आस्रव नहीं होता। आश्रवको दु:खदायी जानकर आस्रवमें प्रेम न रखें अर्थात् क्रोधादिक कषायोंके जगने पर अपने आपकी ऐसी सुध रखते कि ये क्रोधादिक कषायें विनाशीक हैं, ये मुझे बरबाद करने के लिये तुली हुई हैं, इन रूपमैं नहीं हूं। मैं इन आस्रव भावोंसे भी निराला केवल चिदानन्दस्वरूपमात्र हूं—ऐसी भावना रखें तो उसे अशुचि का दर्शन होगा।

अनुप्रेक्ष्य संसार भावना—७वीं भावना है संसार भावना। यह जीव देहमें आत्मबुद्धि करके नाना योनियोंमें जन्ममरण लेते जा रहे हैं। यह जन्म है सो महादु:खदायी है। जन्म है, जीवन है तो उस जीवनमें कष्ट जनित बुद्धि होती है। जीवन है सबका तो यह जीवन नाना विषमतावोंसे भरपूर है। इस जीवनमें कोई जीव धनी है तो कोई गरीब है, कोई मूर्ख है तो कोई ज्ञानी है। सर्वत्र दृष्टि पसारकर देखो तो संसारके समस्त जीव इन सबके होते हुए भी तृष्णा चूंकि उनके लगी है इस कारणसे वे दु:खी हैं, संसारमें जो हैं जीव वे सब दु:खी हैं। उस दु:खको मेटने

का उपाय है दुःख रहित आत्माके चैतन्यस्वभाव की भावना करना । तो संसारको दुःखदायी जानकर संसारसे विरक्त होकर अपने आपके स्वरूपमें लीन होकर अपनी दृष्टि रखनी चाहिये ।

अनुप्रेक्ष्य लोक भावना—८ वीं भावना है लोक भावना । यह लोक बहुत बड़े विस्तारमें है । यहाँ यह अनादिकालसे अज्ञानके कारण भ्रमता चला आया है और सभी योनियोंमें, सभी कुलोंमें, सभी प्रदेशों पर इस जीवने अपनी उत्पत्ति की है । इस लोकमें शरणभूत चीजको अन्य कुछ नहीं हैं, केवल अपने आत्माका विशुद्ध चैतन्यस्वभाव, इसका अवलोकन ही शरण है, मंगलरूप है । लोकके स्थानोंका विचार करना ताकि राग हटे । जितना बड़ा भी क्षेत्र विचारा जाएगा यह रागभाव इतने बड़े और इतने विस्तृत क्षेत्रमें फँसा है तो फैलाकर पदार्थ अत्यन्त पतला हो जाता है और शीघ्र ही इन विभावोंसे छुटकारा मिल जाता है ।

अनुप्रेक्ष्य धर्म भावना—९ वीं भावना है धर्म भावना । धर्म ही जीवका शरण है और आत्माके चैतन्य-स्वभावका दर्शन होना, श्रद्धान होना, ज्ञान होना, आचरण होना—ये सब धर्मके रूप हैं । मनुष्य जब कभी भी अवकाश मिले, अकेला बैठा हो, किसी जगह बैठा हो, थोड़ा भी अवकाश मिले तो आँखों में बन्द करके अपने आपके स्वरूपमें कुछ चिन्तन चलना चाहिये । धर्म भावना बतला रहे हैं । आत्मा का दर्शन ज्ञान, आत्माका ज्ञान और आत्मा का आचार—ये ही धर्मके रूप हैं । धर्मके प्रतापसे जीवोंको अनायास बिना श्रमके भी फल मिल जाया करता है । ऐसा उत्कृष्ट तत्त्व जो मोक्ष तकको भी प्राप्त करा दे, सर्वसंकटोंसे इसका उपयोग छुटा दे ऐसी बात एक इस जैनधर्म में है । उस आत्माकी भावना करना सो धर्म भावना है ।

अनुप्रेक्ष्य बोधिदुर्लभ भावना—१० वीं भावना है बोधिदुर्लभ भावना । संसारमें सभी समागमोंका मिलना सुलभ है, धन-कन कञ्चन राजसुख आदि ये सब पुण्यके उदयसे सभी समागम अनायास प्राप्त होते हैं, पर उनसे आत्माका हित कुछ नहीं है । आत्माका हित केवल आत्मस्वरूपके अवलम्बनमें है । निजकारण समयसारका आश्रय करनेमें आत्माका हित है और बाहरी जितनी धर्मक्रियायें की जा रही हैं वे तो आत्माके मानपूर्वक नहीं है । तो उनमें सुख देने और मोक्षमार्गमें लगानेका साधन नहीं बनता । धन कन कंचन राजसुख आदि तो सभी चीजें सुलभ हैं, पर एक यथार्थ ज्ञान दुर्लभ है । आत्मा क्या पदार्थ है ? देहसे निराला केवल ज्ञानमात्र ऐसा जिसका स्वरूप है, परिपूर्ण हैं ऐसे आत्माकी प्राप्ति, ऐसी आत्माकी अनुभूति उपयोगमें आत्मतत्त्वका आना यह बड़ा दुर्लभ रहा, इसका नाम है बोधि दुर्लभ । बोधि नाम है रत्नत्रयका । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । अब सोचिये कि दुर्लभ तत्त्वोंमें से हमने कितने तत्त्व प्राप्त कर लिये ? मनुष्य हुए, श्रेष्ठ मान वाले हुए, जैन कुलमें उत्पन्न हुए, योग्य माता पिता गुरुजनोंका समागम मिला ज्ञान बढ़ा और वीतराग आचार्य ऋषि सन्तोंके कहे हुए उपदेश पर हम चलते हैं, हमको चलनेकी प्रेरणा मिली तो यों आत्माका कितना अपूर्व स्थान मिला हुआ है । दुर्लभ स्थान पाकर भी हम अपने रत्नकी प्राप्तिमें प्रमादी रहे तो यह हमारे लिए बड़े अनर्थकी बात होगी । तो रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है । उसकी दुर्लभताका विचार करता और परम हितकर उपादेयरूपसे चिन्तन करना सो बोधिदुर्लभ भावना है ।

अनुप्रेक्ष्य संवर भावना—यहां ११ वीं भावना बतायी है संवर भावना । आत्मामें रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानरूप परिणाम होनेका नाम सम्वर है । इस सम्वर भावसे आत्माका कल्याण होता है । रागद्वेषादिक कलङ्क दूर होते हैं । सम्वर तत्त्वही मेरा शरण है, मेरे लिये उपादेय है—ऐसा अपने आपके स्वरूपके लगावमें अपनी बुद्धि बढ़ाना, चिन्तन करना सो सम्वर भावना है ।

अनुप्रेक्ष्य निर्जरा भावना—१२वीं भावना है निर्जरा भावना । जब आत्मामें रागद्वेषके परिणाम नहीं होते । सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रमें बुद्धि होती है । वहां उपयोग स्थिर होता है तो स्वयं ही पूर्व भवके बांध हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है और ऐसी कर्मनिर्जराको प्राप्त होकर जब सभी कर्म दूर हो जायेंगे तो आत्माको मोक्ष प्राप्त होता है । मोक्षप्राप्तिके लिये अथवा ममतापरिणामकी भावनाके लिए इन बारह प्रकारकी अनुप्रेक्षावोंका चिन्तन

करना चाहिये। यह हुई निर्जरा भावना। ये बारह भावनाएं मुख्यरूपसे तो साधुजनोंके होती हैं, पर श्रावकोंका भी इन बारह भावनावोंका अधिकसे अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि संसारमें सुख कहीं नहीं है। सुख मिलेगा तो अपने आपमें लीन होनेसे मिलेगा। तो उस ब्रह्मचर्यका उपाय ये बारह भावनायें हैं। इन भावनावोंको भाकर हम अपने आत्माका पोषण और रक्षण करते हैं।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥

सोढव्य क्षुधापरीषह—जिस पुरुषको आत्मशांति चाहिये और संसारसे छुटकारा चाहिये उसे परिषहों का अभ्यास जरूर होना चाहिये। ये २२ परीषहें तो मुनियोंको बताया है, लेकिन श्रावकोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार कुछ परिषहोंका विजय अवश्य करना चाहिये। कारण यह है कि पुण्यका उदय सदा एक सा नहीं रहता। बड़े बड़े महापुरुष हुए हैं, जिनको बड़े बड़े परीषह सहन करने पड़े, पर चूंकि उन्हें उन परीषहोंके सहन करनेका अभ्यास था सो वे उन परीषहोंसे घबड़ाये नहीं। इसलिए श्रावकोंका इन परीषहों के सहन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। इन परीषहों पर विजय वही पुरुष कर सकता है जो संक्लेश चित्तमें नहीं रखता है। परीषहोंमें प्रथम परीषह है क्षुधापरीषह। क्षुधा लगने पर मुनिजन चर्या के लिये उठते हैं। उनको उपवासके कई दिन हो गये हों, वे चर्याको जायें फिर भी उनको आहार न मिले और आहारके बिना ही चले जायें तो जरा सोचो तो सही कि उनको क्षुधाकी परीषह कितना अधिक सहन करना पड़ता है? लेकिन ज्ञानबल उनके इतना बड़ा है कि उसके प्रतापसे उन्हें उस वेदनाका अनुभव नहीं होता है। वे तो आत्माके शुद्धस्वरूपका चिन्तवन करने लगते हैं। जब वे अपने ज्ञानस्वभावमें अपना उपयोग जमा लेते हैं तो उनको एक आनन्दका अनुभव होता है। किसी भी स्थितिमें ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपको अपने उपयोगमें ले लेता है जिसके प्रतापसे बड़ी-बड़ी कठिन स्थितियों में भी उनकी आनन्दामृतका अनुभव होता है और उस आनन्दामृतका पान करने उनकी भूख प्यास आदिकी सारी वेदनाएं न कुछ जैसी प्रतीत होती हैं।

क्षुधापरीषहविजयके प्रसंगमें ज्ञानीका विचार—मुनिजन उन वेदनावोंके समयमें ऐसा विचार करते हैं कि मैंने नरकोंमें न जाने कितने कितने कठिन दुःख सहन किये? उन दुःखोंके आगे तो यह क्षुधाकी वेदना कुछ भी नहीं है। कितने ही मनुष्य दीन हैं, जिनको भरपेट भोजन नहीं मिलता है। उनकी क्या गति है? सो तो विचार करो अथवा जो मध्यम वर्गके लोग हैं उनके सामने ऐसी ऐसी समस्याएं हैं कि जिनके कारण वे भरपेट भोजन भी नहीं कर सकते और कह भी नहीं सकते। तिर्यंचोंमें देखो तो पशुपक्षी कितना पराधीन है? उनको जहाँ बाँध दिया तहां ही बन्धे रहे। यदि बांधने वाला भूल जाए तो वह पशु भूखा प्यासा ही मर जाये। साधुजन विचार करते हैं कि अरे उन पशुओंकी तरह तो तेरा भी जीव है तू भी तो अनन्त बार ऐसा पशु बना, पराधीन बना, इससे भी कई गुना वेदनाएं सहीं। हे आत्मन्! अब तुम क्यों इन छोटीसी वेदनावोंको सहन करनेमें कायर बन रहे हो? मुनिजन ऐसा विचार करते हैं। यद्यपि अनेक लोगों के अनुभव में ऐसी बात है कि रोज ८ बजे खाना खाते थे और किसी कारण २ बजे तक कुछ भी न मिला तो बड़ी घबड़ाहट हो जाती है। वह घबड़ाहट इसलिये है कि परीषह सहने का अभ्यास नहीं बनाया है। जब दूसरों को खाते पीते देखते हैं तो अपनी भूख पर दृष्टि होनेसे उसकी भूख और बढ़ जाती है। तो अपना परीषह सहन करनेका अभ्यास अवश्य होना चाहिये। मुनिजनों को एक तो अभ्यास की बात है और दूसरे उनका ज्ञानबल बढ़ा हुआ है, जिनके कारण उन्हें क्षुधा की वेदना अधिक पीड़ित नहीं करती, बल्कि वे शांतिका अनुभव करते हैं।

दुःखमें मात्र ज्ञानबलका सत्य सहाय—मनुष्यका सहाय एक ज्ञान है। घर कुटुम्बमें किसी इष्टका वियोग हो गया तो अनेक लोग नाते रिस्तेदार पास पड़ौसके लोग उस दुःखी पुरुषको सान्तवना देनेके लिये आते हैं,

बहुत बहुत समझाते हैं, पर वह ही यदि अपने ज्ञानबलका सहारा ले तो उसका दुःख मिट सकता है, नहीं तो उसके दुःखको मेटनेमें कोई समर्थ नहीं है। जब खुद ही अपना ऐसा ज्ञान बना ले कि अरे, इस देह से, धन वैभवसे यह आत्मा न्यारा है, यहांकी सर्ववस्तुवोंसे यह आत्मा भिन्न है, यह देह भी अपना नहीं है। यहां कौन किसका क्या लगता है ? किससे क्या सम्बन्ध है ? अरे, यहां तो कोई भी परपदार्थ किसीका कुछ नहीं लगता। क्यों किसी परजीव को अपना मानकर उसके पीछे दुःख सहते हो ? इस प्रकारका ज्ञान बनने पर उसकी सारी आकुलतायें समाप्त हो जाती हैं। तो अपने दुःखको मेटनेमें समर्थ अपना ही ज्ञानबल है। वह ज्ञानबल इस चितनसे बढ़ता है कि मैं आत्मा अमूर्त हूं, रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हूं। जो दुनियाको दिख रहा है यह शरीर, वह मैं नहीं हूं। ये दुनियाके दृश्यमान पदार्थ सब मायारूप हैं। मैं तो देहसे भी निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हूं। इतनी दृष्टि बने तो ज्ञानबल बढ़े, आत्मबल बढ़े, परीषह जीतनेकी शक्ति बढ़े। फिर उसे कोई आकुलता नहीं है। इस कामके बराबर अन्य कोई काम नहीं है।

वर्तमान कल्पित सुखकी व्यर्थता—भैया ! धन वैभव बढ़ गया, कुछ आराम मिल गया तो उससे क्या हो गया ? ये सब ठाठ कितने दिनोंके हैं ? अभी तो बड़े मौजमें हैं और मरकर न जाने क्या हाल हो जाये ? पता नहीं कैसी स्थिति मिले ? अभी मनुष्य हैं। मरण करके तुरन्त ही इन्द्रादिकके सुख भोग सकते हैं और मरण करके खोटीसे खोटी गति प्राप्त करके असह्य दुःख भी सह सकते हैं। इस समय जैसे मनुष्य हैं तो मनुष्य आयुके साथ साथ अनेक प्रकृतियां उदयमें होती हैं। जब मनुष्यका उदय नहीं रहता, तिर्यंच आयुका उदय होता है तो जितनी भी और और प्रकृतियां थी, यद्यपि उनकी सत्ता आगे भी रहेगी। बंधन लम्बा है, लेकिन वे सब प्रकृतियां उसी भवमें उदय कालमें बदल बदलकर उस स्थावर और तिर्यंचके माफिक उदयमें आया। जैसे इस समय हम आप सब मनुष्योंके नरक गतिकी सत्ता पड़ी हुई है, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिकी भी सत्ता पड़ी हुई है अथवा पहिले नरकगति बांधी तो वह गति भी बराबर अब तक चली आ रही है और तिर्यंच भी, पर चूंकि मनुष्य हैं तो वे प्रकृतियां मनुष्यगतिरूप बन बनकर उदयमें आ रही हैं। ऐसे ही समझिये कि जब तिर्यंचायुका उदय आता है तो बची खुची जो भी गति वह सब तिर्यंचगति आदिकरूप बन बनकर उदयमें आती है। ऐसा ही कर्मप्रकृतिका सिद्धान्त है। तो वहां लगता है ऐसा कि मनुष्य तक कदम बढ़ाकर अब गिरकर निगोदमें जन्म लिया है तो एकदम ऐसी अशान्त जैसी स्थिति आती है, लेकिन कुछ परिचय इन मनुष्योंके अन्तिम कालमें भी होने लगता है। जैसे धन वैभव होते हुए भी वैभवका बहुत बड़ा विषाद रहता किसी किसीका तो महीनों पहिलेसे दिमाग खराब हो जाता तो प्रयोजन कहनेका यह है कि हमें अपने जीवनमें शरीरको सुकुमार न बनाना चाहिये। खूब धन बढ़े, सोनेके लिये गद्दा ही मिले, बहुत अच्छा अच्छा खाने पीनेको मिले, किसी प्रकारका श्रम न करना पड़े—इस प्रकारकी सुकुमारताकी बात मनमें न आनी चाहिये। एकसी स्थिति सदा नहीं बनी रहती। कदाचित् कष्टमय समय आ जावे तो फिर क्या हाल होगा ? जिस समय क्षुधाकी वेदना है उस समय मुनिजन ऐसा विचार करते हैं कि यह कोई नई चीज नहीं है। अनन्त भवोंमें बहुत बहुत दुःख सहे, अब तू अपने ज्ञानस्वरूपको अपने उपयोगमें रख, ज्ञानामृतका पान कर, अपना उपयोग अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर रहे ऐसी स्थितिका अनुभव कर तो पूर्व बांधे हुए कर्म खिर जायेंगे और यह क्षुधा वेदनीयका कर्म सदाको छूट जायेगा।

बोढव्य तृषापरीषहविजय—दूसरा है तृषापरीषहविजय। देखिये भूख और प्यासमें कितना अन्तर है। भूखके दो भेद हैं—तीव्र भूख और मन्द भूख। पर प्यासमें ४ भेद हैं—तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर। तो यह भूख की वेदना प्यासके मुकाबले कम भयङ्कर होती है। बहुत हल्की भूखमें तो भूखका कुछ पता भी नहीं पड़ता। जब तक खूब भूख न लग जाये तब तक अधिक आकुलता नहीं होती। भूखकी वेदना एक आध बार सह भी सकते हैं, पर प्यासकी वेदना ऐसी है कि वह सहन नहीं की जा सकती। तो अपना ऐसा अभ्यास होना चाहिये कि अगर क्षुधा तृषा आदिककी वेदनायें सामने आ जायें तो बराबर उन पर विजय प्राप्त करें, उन परीषहोंको सह लें। एक दृष्टान्त द्वारा

समझो—मान लो कोई मुनि १५ दिनके उपवासमें हैं। गर्मीके दिन हैं। आहारको भी निकलते, पर आहार जल पान भी नहीं हो पाता तो सोचिये कि उन मुनिराजको क्षुधा तृषाकी कितनी अधिक वेदना सहन करनी पड़ती है ? पर उस वेदनाको भी वे ज्ञानी पुरुष प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं। वह ज्ञानी पुरुष उस स्थितिमें भी आनन्दामृतका अनुभव करता है और कोई विकल्प उठे तो चिन्तन करता है कि तूने संसारमें अनेक भवोंमें अति दुःख धारण किये हैं तो इस थोड़ीसी वेदनामें क्यों कायर होता है ? तूने व्रत लिया है तो आचरणमें सावधान रह। उससे डिगना तेरे लिये लज्जाकी बात है। वह ऐसा स्पष्ट ज्ञान करता है कि उसकी सारी वेदनायें एक साथ शान्त हो जाती हैं। एक तो जिसका यह लक्ष्य नहीं है कि हमें परीषहविजय भी करना चाहिये तो घर, दूकान, धर्मस्थ न आदिक कहीं भी बैठ जायें, जरा भी प्यास हो तो तुरन्त ही पानी भरकर पी लेते हैं और जिनके परीषहविजय करनेका लक्ष्य है वे इतनी जल्दी जरासी फांसके ही लग जाने पर इस तरहकी प्रक्रिया नहीं करते।

वोढव्य शीतपरीषह—तीसरे परीषहका नाम है शीतपरीषह। इस परीषहको श्रावकजन भी कुछ कुछ सहन करते हैं। थोड़ी बहुत शीत श्रावकजन भी सहन कर लेते हैं। साधुजन तो इस शीतपरीषह पर पूर्ण रूपेण विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा सोचकर श्रावकजनोंको शीतपरीषह पर कुछ न कुछ विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। यदि ऐसी ठण्ड हो कि शीत हवा भी चले, शरीर थरथर कांपने लगे, तालाबके पानीका बर्फ भी जम जाये, घरमें रखे हुए बर्तनका पानी ऐसा जम जाता है कि पानी निकलता है नहीं, तकने कठिन परीषह भी जहां होते हैं ऐसे समयमें भी मुनिजन क्या करते हैं ? जङ्गलमें नग्नरूपमें रहते हैं, वस्त्र धारण कर नहीं सकते—ऐसे मुनिजन वहां शीतपरीषह पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और वहां भी शायद किसी किसी मुनिको निमोनिया हो जाता होगा। निमोनिया उस शीत की वजहसे नहीं होता। हां अपने ही शरीरमें कुछ रोग हो तो उसे निमोनिया बहुत जल्दी हो सकता है। जैसे एक लकवेकी बीमारी है कि यह बाहर पड़ गया, सो इसके शरीरमें लकवा मार गया—ऐसी बात नहीं है। अगर शरीर में ही कोई कमी है, कोई बीमारी है, शरीर ही उस योग्य है तो लकवा लग सकता है। उन वनोंमें सैकड़ों मुनि रहते हैं, उनमें से किसी एक दोके लकवा मार गया अथवा निमोनिया हो गया अथवा हैजा आदिक हो गया तो यह भी उस मुनिके शरीरकी योग्यता पर निर्भर रखता है। वे मुनिजन इस शीतपरीषह पर विजय प्राप्त करते हैं। श्रावकों को भी इस शीतपरीषह पर कुछ न कुछ विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। ज्ञानी साधु ऐसा चिंतन करता है कि तूने तो ऐसी ऐसी न जानें कितनी ही शीत सही हैं, ऐसा ऐसी शीत कि जिनमें लोहेका गोल भी गलकर पानी बन जाता है। इतनी ठण्ड छठे, सातवें गुणस्थानमें सहता है। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, यदि तू इस मुनिव्रतमें रहकर इस शीतपरीषहका विजय कर चुका तो तेरा सदाके लिये संसार छूट जायेगा।

संसरणमुक्तिका उपाय परमात्मतत्त्वभक्ति—देखिये संसार छूटनेका मूलमन्त्र केवल यह है कि ऐसा अनुभव बनाये कि मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। जिसका किसीसे सम्बन्ध नहीं, स्त्री पुत्र घर धन वैभव किसीसे इस आत्माका सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो सब मायाजाल है, मोहकी नींद है। सो कल्पना कर लेते हैं, मगर आत्माका किसी भी दूसरे आत्मासे रंचमात्र सम्बन्ध नहीं। अपने आपको इस अनुभवमें ज्यादासे ज्यादा लेवें। पूजन कर रहे हों, भगवानके गुणोंका स्मरण कर रहे हों तो ऐसा उपयोग बनायें कि मूर्ति पर ज्यादा दृष्टि न गड़ायें। एक बार देख लें और देख करके फिर मूर्तिके अंग अंग पर वहां अधिक दृष्टि न लगायें, किन्तु झट उपयोग बदलकर जिसकी मूर्ति हमने स्थापित की है—शान्तिनाथकी, महावीरकी, उनका जो हम चरित्र जानते हैं झट उनके चरित्र पर दृष्टि जाये, क्योंकि हम कभी मूर्तिकी पूजा नहीं करते, मूर्तिमानकी पूजा करते हैं। कोई ऐसा नहीं कहता कि हे जयपुरकी बनी पत्थरकी मूर्ति तुम बड़ी अच्छी हो, सफेद रङ्गकी हो, तुम्हारे अंग बड़े अच्छे बने हैं आदि। ऐसा कोई नहीं कहता। वहां तो जिन महावीर शान्तिनाथ आदिकी स्थापना की गई है, जिनका कि बहुत बहुत वर्णन सुननेको मिला है, उनके गुणों पर दृष्टि जाती है। ओह ! ऐसे महावीर प्रभु हुए जिन्होंने इस इस तरहसे सर्व कुछ त्यागकर

निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकारकी दृष्टि मूर्तिकी पूजा करने पर जाती है तथा मूर्तिपूजासे जो आत्मामें सनातन (नित्य) मौजूद है उस अपने आत्माके ज्ञानस्वभावका स्मरण होता है। आत्मा अपने ज्ञानस्वभावको स्मरणमें लेता हैं तब उसका ज्ञानबल बढ़ता है, आत्मबल बढ़ता है और ज्ञानशक्ति जगती हैं।

स्वाध्याय गुरूपास्ति आदि कर्तव्योंमें प्रवृत्तिका प्रताप और शीतपरीषहविजय—देखिये हम स्वाध्याय करते हैं। यदि किसी पुस्तकसे ३–४ लाइन पढ़ लीं तो उन ३–४ लाइनोंमें जो कुछ भी लिखा हो उसे अपने ऊपर घटायें। जैसे पढ़ रहे हैं कि हे आत्मन्! तूने इन विषयोंमें आसक्ति करके अपने आत्माकी सुध खो दी तो इसको अपने आप पर घटायें कि मैंने देखो ऐसे जिन्दगी बिता दी, विषयोंमें ऐसा आसक्त रहा, मैंने आत्माकी सुधि भी खोयी थी ना? अपने गुण अवगुण लिखता जाये—ऐसा कोई स्वाध्याय करे तो वास्तविक लाभ उसे मिलता है। कोई भी घटना आये उसको अपने आत्मा पर घटाया करें तो वह स्वाध्याय है। इसी प्रकार जब गुरूपासना करें, गुरुवों के संग में बैठें तो गुरुवोंसे अन्य मित्रजनोंकी तरह निर्विवेक प्रेम भाव न रखें, किन्तु इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है, वैराग्य जगा है तो ज्ञान वैराग्य इनके हृदयमें है इसलिये ये शान्त हैं, ज्ञानानुभव करते हैं और खोटे कर्मोंसे बचते हैं, यही स्वरूप मेरेको प्राप्त हो ऐसी साथमें वाञ्छा रखते हुए गुरुवोंकी सेवा है तो वह वास्तविक गुरूपासना है। इसी प्रकार सब कर्तव्यों में अपने आपकी सुध आये तो यह कर्तव्य हमारा सही कर्तव्य है। तो शीतपरीषहमें मुनिजन ऐसा चिंतन कर रहे हैं कि मेरे ज्ञानानुभव जग रहा है उसीमें इतना प्रताप है कि बाहरमें ठण्ड भी है, पर उन्हें ठण्ड की वेदना नहीं सताती। श्रावकोंका भी कर्तव्य है कि वे भी अपने जीवनमें शीतपरीषह सहनेका अभ्यास बनायें, अपनेमें एक ज्ञानबल बनायें तो उन समस्त संकटोंको दूर कर सकते हैं। जीवनमें कष्टसहिष्णु बनना एक बहुत ऊंची चीज है याने कष्ट आयें और उन सबको सह सकें ऐसी अपने आपमें शक्ति रखना और उत्साह रखनेका संकल्प होना, क्योंकि जीवों के जिनके पुण्यका उदय भी चल रहा है उनके भी पुण्य पापके चक्र लगे रहा करते हैं। सो जब अभ्यास नहीं है कष्ट सहनेका तो वह विह्वल हो जायेगा और जो पहिले ज्ञान कमाया था, व्रत पालन किया था वह भी छूट जायेगा। इससे कष्ट सहनेका अभ्यास रखना जरूरी है। मुनिराज इस लक्ष्यसे २२ परीषहोंका विजय करके उसमें समता भाव बनायें। श्रावकोंको भी इन सब परीषहोंके विजय करनेका यत्न रखना चाहिए।

षोढव्य उष्णपरीषह—चौथी परीषह है उष्णपरीषह। उस पर विजय करना सो उष्णपरीषहविजय है। ऐसी गर्मी पड़ रही हो कि जिसमें नगर, मकान, पृथ्वी सभी तपते तवेके समान सूख जाते हैं, तप जाते हैं, जहाँ जीव व्याकुल हो जाते हैं। बड़े बड़े जंगली जीव जिस गर्मीके कारण किसी वृक्षकी कुछ छाया पाकर भी व्याकुल और बेहतासे पड़े रहते हैं। इस व्याकुलताके कारण उन्हें दूसरोंसे बैरभाव करनेकी भी बात चित्तमें जम नहीं पाती। ऐसे बड़े विकट समयमें भी साधुजन उष्णका संताप सहते हैं। ऐसे विकट समयमें सारे सरोवर सूख जाते हैं, बड़ी लू चल रही है, फिर भी मुनिराज पर्वतके शिखर पर विराजमान हैं। ज्ञानानुभूतिसे वे तृप्त रहा करते हैं और अन्तः-शान्ति शीतानुभवके कारण उष्णता की कोई वेदना अनुभव नहीं करते हैं। ऐसी उष्णताका परीषह गृहस्थ भी सह तो लेते हैं, मगर उन्हें किसी प्रयोजनसे कहीं जाना पड़े तो उष्णतामें उष्णता सह रहे, उसे वे अपनेमें समताका परिणाम रख कर सहते हैं। इसके लिये ज्ञानीको चाहिये कि बड़े उष्णकालमें ज्ञानानुभवके अमृतके पानसे उष्ण वेदना का शमन करे और अपने आत्माका अनुभव करके संसारके दुःखोंसे छुटाये।

नग्नपरीषहविजय व याचनापरीषहविजय—५ वां है नग्नपरीषहविजय। किसी प्रकारके वस्त्र धारण न करना, नग्न निर्ग्रंथ मुद्रामें रहना तिस पर भी शरीर सम्बन्धी कोई विकार न आ सकना उसे नग्नपरीषह विजय कहते हैं। इस नग्नपरीषहका पालन करनेसे उस कल्याणार्थीका शरीरसे ममत्व हट जाता है। उस को एक अपने आत्माकी सुध रहती है जो अपने आपको संसारके दुःखोंसे छुटा लेता है। श्रावकजन भी किसी एकाग्र स्थानमें या किसी योग्य स्थानमें नग्नपरीषहका अभ्यास करते हैं। सामायिक आदिकके समय नग्नरूपमें रहकर ध्यानस्थ रहा करते

हैं। यह उनके नग्नपरीषहविजयका अभ्यास है। छठा है याचनापरीषहविजय। साधुजन किसी भी समय याचना नहीं करते। कोई मुनि कई दिनोंसे उपवास किये हुए हों, शरीरमें किसी प्रकारकी वेदना भी उत्पन्न हो गई हो, पर वे साधुजन औषधि तककी भी याचना नहीं करते। साधुजन किसी भी प्रकारका संकेत नहीं करते कि हम आजकल क्षुधासे इतने पीड़ित हैं। यों किसी भी प्रकारका संकेत नहीं करते। ऐसी याचना परीषहका विजय भी साधुजन किया करते हैं। गृहस्थों को चाहिये कि अपने विषयोंकी पूर्तिके लिये अपने विषय साधनोंमें कई प्रकारकी कमी होने पर याचना न करें तो यह गृहस्थका याचनापरीषहविजयका अभ्यास हुआ।

बोढव्य अरतिपरीषह व अलाभपरीषह—७ वां परीषह है अरतिपरीषह। संसारके कई जीव इष्ट लग रहे, कई अनिष्ट; पर वहां अनिष्ट संयोग मिले तो भी अपने मनमें विह्वलता न करें। संसारके पदार्थ तो माननेसे हैं। पदार्थ तो जहां हैं तहां पड़े हुए हैं। हम स्वयं विषयोंकी वासनामें रहते हैं तो उन विषय साधनोंमें जहां हमारी अनुकूलता पड़े तो हम उसे अनिष्ट मान लेते हैं। साधनोंके लोभको दूर करना चाहिये। हम कुछ भी न चाहें अपने आराम और विषयोंके लिये। ज्ञानीजन तो अपने स्वभावका बार बार अवलोकन करते हैं और ऐसा चिन्तन रखते है कि जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, कोई मुझे सुख दे नहीं सकता है और न कोई मेरे सुखका साधन है। मेरा ही ज्ञानबल मेरे सुखका साधन है ऐसा जानते हैं और अपने आपमें रत रहते हैं। किसी भी समय अरतिपरिणाम नहीं करते। तो अरतिपरीषहका अभ्यास इस गृहस्थको भी करना चाहिये। उन सबमें अपने आपको सावधान बनायें, दुर्बलता न लाने दें। ८ वां परीषह है अलाभपरीषह। किसी साधुने अनेक उपवास किये और चर्याके लिये निकलें तो आहारका लाभ न होते हुए भी प्रसन्नता रखना, उसे भी अपना एक परीक्षण समझना, मोक्षमार्गमें चलनेके लिये उत्साह बनाये रहना और अलाभके परीषहसे खेद खिन्न न होना इसका नाम है अलाभपरीषह। ज्ञानीजन संसार के किसी बाह्यपदार्थसे अपना लाभ नहीं मानते, लेकिन जब शरीरके बन्धनमें पड़े हैं तो यहां कुछ ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि असाता वेदनीयका तीव्र उदय आये तो क्षुधाकी वेदना होती है। उस समय क्षुधापरीषहको शान्त करनेके लिये कुछ उपाय जुड़ते हैं। उसका उपाय सीधेमें इतना ही है कि भोजन कर लिया, शान्ति मिल गयी, मगर भोजन करके क्षुधा-परीषहको शान्त करते रहें तो फिर आगेका काम कैसे चलेगा? शरीर मिलेंगे, उसमें फिर दुःखी होना पड़ेगा।

दशमसकादिपरीषहविजय—९ वां परीषहविजय है दशमसकादिपरीषहविजय। कोई भयङ्कर वन हो, जिसमें डांस मच्छर आदिक रहते हैं। डांस मच्छर भी एक उपचारसे कहा है। सर्प बिच्छू आदिक—ये सब लिपट जाते हैं तब बड़ी व्यथा होती है। तो ऐसी कठिन व्यथामें भी जहां मक्खी मच्छर आदिक खूब काट रहे हों, सर्प बिच्छू आदि डस रहे हों ऐसी स्थितिमें भी वे साधुजन नग्न शरीरमें रहकर जंगलमें तपश्चरण करते हैं, ध्यानमें बैठे हों तो भी उन वेदनावोंसे रंच भी नहीं चिगते हैं। ऐसे साधुजन इस प्रकारके परीषहोंको भी समतासे सहन करते हैं। गृहस्थोंको भी इस प्रकारके परीषहोंको सहन करनेका अभ्यास अवश्य बनाना चाहिये।

आक्रोशपरीषहविजय—१०वां है आक्रोशपरीषहविजय। कोई गाली देता हो उसे भी सुनकर मनमें खेद न लाना यह ज्ञानका ही काम है। यही आक्रोशपरीषहविजय है। प्रथम तो यह ज्ञानी सोचता है कि यह गाली देने वाला अज्ञानी है, इसे कोई खबर नहीं है। यह अपने ही मनमें अपनी कल्पनायें उठाता है और अपनी ही कषायोंको शान्त करनेके लिए गाली देता है। पर यह हमको क्या देता है। मैं आत्मा तो अलख हूं, निरञ्जन हूं, इसे तो कोई पहिचानता ही नहीं है, इसमें तो किसी पुद्गल तत्त्वका प्रवेश ही नहीं होता है। किसी परवस्तुसे आत्माको खेद नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें अपने आपको उन गालियोंसे अपने मनमें खेद न मानना सो आक्रोशपरीषहविजय है। ज्ञानबल एक इतना उत्कृष्ट बल है कि जिस बलसे सम्मान अपमान प्रशंसा निन्दा सब एक समय नहीं आते हैं। किसीने सम्मान किया तो क्या है? यदि सम्मानमें हर्ष माना तो कर्मबन्ध हो ही गया। इसी प्रकार किसीने अपमान कर दिया तो इसमें उस का कौनसा अनर्थ किया? तो अपमानका प्रसंग आने पर भी मनमें खेद न लाना महानपरीषहविजय हैं।

अनेक लोग निर्ग्रंथ साधुवोंको ये चोर हैं, ये ठग हैं, ये निर्लज्ज हैं आदिक कहते हैं। उनको सुनकर भी रंच क्रोध न आये तो उसे आक्रोशपरीषहविजय कहते हैं।

रोगपरीषहविजय—जन्म मरणके मोह रोगसे छुटकारा पानेके यत्नमें रहने वाले ज्ञानी संत कदाचित शरीरमें कोई रोग आ पड़े तो उस समय रोग जनित पीड़ाको सहन करते हुए और स्वयं रोग शमनके उपायमें न लगते हुए समता भाव धारण करते हैं उस पुरुषार्थको रोगपरीषहविजय कहते हैं। यह शरीर क्षणभंगुर है। इसका ही नाम शरीर है। जो शीर्ण हो, जो गले उसे शरीर कहते हैं। शीर्यते इति शरीरम् याने जो गल जाये, नष्ट हो जाये उसका नाम है शरीर। इस विनाशीक शरीरमें, इस दुर्गन्धित, अपवित्र शरीरमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। छोटासा भी रोग हो, जरासा भी फोड़ा फुंसी हो उसे भी शरीरमें आसक्त पुरुष रंच भी बरदास्त नहीं कर पाता, अपनेको बड़ा दुःखी अनुभव करता है और फिर जो कठिन रोग हैं—जैसे पेटमें शूल होना या विशिष्ट बुखार होना, कोढ़, रक्तविकार आदि नाना प्रकारके कठिन रोग होते हैं उन रोगोंके समयमें ज्ञानी जीव जब शरीरसे ही भिन्न अपने आपको निरखता है तो लोकमें क्या म्लान परिणाम करेगा ? नहीं। वह तो उस स्थितिका जाननहार रहता है। यह बात केवल कथनमात्रकी नहीं है। जिसकी दृष्टि भेदविज्ञानसे विशुद्ध हो गई है और स्पष्ट निरखता है कि यह ज्ञान मात्र मैं आत्मा हूं। उसका अब रोगसे क्या लगाव रहा और इस भेदविज्ञानके प्रसादसे प्राप्त हुए आत्मस्वरूपके दर्शन बलसे उन समस्त रोग वेदनावोंको समतापूर्वक सह लेता है अथवा सहते भी क्या हैं ? उन की वेदना ही उन्हें अनुभूत नहीं होती है।

धनधान्य परिग्रहोंका त्याग करना और अन्तरङ्गमें अहंकार ममकाररूप बुद्धिका त्याग करना इसका नाम है उत्सर्ग। यह उत्सर्ग भी अन्तरङ्ग भावसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि त्याग करना तो भावोंका त्याग करने कोकहते हैं। बाहरमें कोई चीज छोड़ दी, पर उसकी चाह बनी रहे तो वह त्याग न कहलायेगा। तो त्याग भी अन्तरङ्ग तप है। अन्तरंगमें ममता छूटी हो, उपेक्षा जगी हो वह तप कहलायेगा। एक तप बताया है स्वाध्याय। स्व मायने आत्मा और अध्याय मायने अध्ययन करना। आत्माका अध्ययन करना, ध्यान करना इसका नाम स्वाध्याय है। अपने आपके ज्ञानकी प्रभावना करनेके लिये आवरण रहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैनशास्त्रोंका पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, बांचना, सुनना—ये सब स्वाध्याय हैं। जैसे किसीके स्वाध्यायका नियम है और आकर झट साढ़े तीन लाइन पढ़कर चले गये तो यह स्वाध्याय नहीं कहलाता। स्वाध्याय है आत्माका अध्ययन करना, खुदका अध्ययन करना। स्वाध्याय के ५ भेद बताये हैं। पहला बांचना। ग्रन्थ रखकर उसे पढ़ना और साधारण अर्थ भी जानते जाना इसका नाम है बांचना। इस बांचनेमें भी बराबर उसका अर्थ मनमें आते रहना चाहिये, समझ बनते रहना चाहिये। जो कुछ भी बुद्धि हो उसके अनुसार अर्थ भासता जाये तो वह बाँचनेका स्वाध्याय है और प्रत्येक स्वाध्याय इस पद्धति से करते रहना चाहिये कि जिससे अपने आत्महितपर दृष्टि पहुंचे। जैसे बांचनेमें आया कि स्वयंभू रमण समुद्र इतना बड़ा, जीवोंके शरीर इतने इतने बड़े हैं, इस इस तरहके विचित्र शरीर हैं, ७ वें नरकमें ऐसे ऐसे नारकी हैं, यों नाना प्रकार की बातें पढ़कर चित्तमें यह आना चाहिये कि देखो इस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बिना जीवकी ऐसी हालत हो रही है। इस प्रकारसे जन्म मरण करना पड़ रहा है। एक आत्मज्ञानके बिना इस जीवकी कितनी विडम्बनायें रही हैं ? इस प्रकारका चिन्तन करना स्वाध्याय है। दूसरा स्वाध्याय है प्रच्छना। अपनेको किसी तत्त्वमें शङ्का हो या जानकारी न हो अथवा कुछ समझ रखा हो, उसकी दृढ़ता करनी हो तो उसकी जानकारी करनेके लिये नम्रतापूर्वक गुरुजनों से अथवा किसी विद्वानसे पूछना, सो पूछना प्रच्छना नामक स्वाध्याय है। यदि कोई अहंकारी बनकर कठोरतापूर्वक किसीसे पूछता है या उन गुरुजनों अथवा विद्वानोंकी परीक्षा करनेके लिये कोई पूछता है तो वह प्रच्छना नामका स्वाध्याय नहीं है।

तीसरा स्वाध्याय है अनुप्रेच्छा। कोई जानकारी कर ली तो उसका बार बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेच्छा नामक स्वाध्याय है। जैसे बारह भावनावोंका ज्ञान किया तो बराबर उनका चिन्तन करना, अपने आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान किया तो बार बार उसका चिन्तवन करना सो अनुप्रेच्छा नामक स्वाध्याय है। चौथे स्वाध्यायका नाम है आम्नाय। विद्यार्थीकी भांति किसी गुरुके पास पढ़ना सो आम्नाय नामक स्वाध्याय है। ५ वें स्वाध्यायका नाम है धर्मोपदेश। धर्मकी बातोंका उपदेश करना, जैसे शास्त्र सभायें होती हैं, प्रवचन किये जाते है तो वह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है। इसे स्वाध्यायमें भी स्वका अध्ययन होना चाहिये। धर्मोपदेश सुनने वाला और सुनाने वाला—ये दोनों स्वाध्याय कर रहे हैं। इस प्रकार ५ प्रकारके स्वाध्याय हैं। छठा तप है ध्यान। चित्तको विशुद्ध तत्त्वकी ओर लगाना सो ध्यान है। ये ६ अन्तरंग तप कहे जाते हैं।

अन्तरङ्ग तपश्चरणसे लाभ—अन्तरंग तप करनेसे आत्माको क्या क्या लाभ प्राप्त होते हैं? विनयादिक अन्तरंग तप करनेसे पहिला लाभ तो यह है कि अन्तरंग तप करनेसे मान कषाय नष्ट हो जाती है। जिसके मान कषाय हैं वह न चिन्तन कर सकता, न वैयावृत्ति कर सकता, न प्रायश्चित्त कर सकता। तो अन्तरंग तप करनेसे मान कषाय दूर हो जाती है। दूसरा लाभ यह है कि ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धि हो जाती है। व्यवहारकी शिक्षाको भी विनयपूर्वक कोई ग्रहण करता है तो उसको जल्दी वह विद्या याद हो जाती है। फिर मोक्षके सम्बन्धकी जो विद्या है, ज्ञानादिक गुण हैं उनका विकास तो विनयके बिना असम्भव है। आत्म विनय करे, धर्मात्मावोंका विनय करे, तब मोक्ष सम्बन्धी विद्याकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार वैयावृत्ति, प्रायश्चित्त, त्याग—ये सब ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धिमें सहायक हैं। तीसरी बात यह है कि अन्तरंग तपके करनेसे गुणोंमें बड़ा अनुराग प्रकट होता है। चौथा लाभ यह है कि इस अन्तरंग तप के करनेसे व्रतसिद्धि होती है। जो चारित्र धारण किया है उसमें बड़ी विशुद्धि बढ़ती है। कोई पुरुष अन्तरंग भावसे तो चारित्र ग्रहण न करे, अन्तरंग विनय आदिक न रखे, बाहरमें भी कठोर है, वह चारित्र ग्रहण किये है तो उसका वह चारित्र नहीं है। जिसके अन्तरंग तप नहीं हैं, अन्तरंग विनय नहीं है, अपने आत्माके अन्तः स्वरूपकी दृष्टि नहीं है उसका चारित्र चारित्र ही नहीं है। वह तो एक भूल है। तो अन्तरंग तपश्चरणके करनेसे व्रत आदिककी सिद्धि हो जाती है। ५ वां लाभ है कि इस अन्तरंग तपके प्रतापसे आत्मा निःशल्य हो जाता है। छठा लाभ यह है कि अन्तरंग तपके प्रतापसे निरन्तर परिणामोंमें उज्ज्वलता रहती है। परिणामोंकी गन्दगी उसके आती है जो स्वच्छन्द होकर अपराधों पर अपराध करता रहता है। त्यागका जहाँ नाम नहीं है और स्वाध्यायसे दूर बना रहता है—ऐसे पुरुषका परिणाम उज्ज्वल कहाँसे रहे? जो इस प्रकारके अन्तरंग, ५ प्रकारके तपश्चरण करता है उसका परिणाम भी उज्ज्वल होता है। इसके बाद लाभ यह है कि सम्वेग परिणाम बढ़ता रहता है। सम्वेगका अर्थ है धर्ममें अनुराग होना या संसार शरीर और भोग—इन तीनोंसे वैराग्य होना और आखिरी लाभ यह भी समझिए कि बाह्य अन्तरंग तपश्चरणके प्रतापसे मन वश हो जाता है, अनाकुलताकी प्राप्ति हो जाती है। जिसके प्रतापसे आत्मा का जो परम सहज स्वभाव है आनन्द है उसमें मग्न हो जाता है। तो इन विनय आदिक अन्तरंग तपश्चरणके प्रताप से यह जीव संसारके दुःखोंसे हटकर मोक्षके सुखको प्राप्त होता है।

तपश्चरणके वर्णनसे अपने लिये शिक्षाका ग्रहण—इस तपश्चरणके कथनोंको सुनकर हमें अपने आपके हितके लिए कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। प्रथम तो यह है कि हम अपना परिणाम विनयपूर्ण रखें। विनयमें बहिरंग विनय और अन्तरंग विनय—ये दोनों बातें आती हैं, जिनमें मुख्य अन्तरंग विनय है। अपना परिणाम अपने हित के लिये बनाये रहें, अपने हितकी दृष्टिसे निर्णय बनाया करें तो यह अन्तरंग विनय है। विनयका अर्थ ही यह है कि जो विशिष्ट पदमें ले जाये। विनयके प्रतापसे यह जीव नियमसे ऊपरकी स्थितिको प्राप्त होता है। विशेष ज्ञानी बने, चारित्रवान बने वैभववान बने। यों विनयके प्रताप जीव उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त होता है। चाहे कोई गृहस्थ विनय करके भी धनी न बन सके, पर वह विनय करके जनताका प्यारा तो हो गया। कदाचित् उसके ऊपर कोई कष्ट

आये तो बीसों लोग उसकी सहायता करनेको तैयार हो जाते हैं। तो यह भी एक उत्कृष्टता उसने पायी। विनयके अभावमें होगा अहंकार। अहंकारी पुरुष अहकार करके लाभ क्या पाता है? डण्डे भी खायेगा, लोगोंकी निगाहसे भी गिर जावेगा। व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि विनयगुणके कारण अपने साथी सैंकड़ों बन जाते हैं। तो हम अपने जीवनमें विनयका परिणाम बनाये रखें—ऐसी कोशिश करनी चाहिए, ऐसा अपना ज्ञान बनाना चाहिये। बड़ा पुरुष तो वह है कि प्रतिकूल अवसर आने पर भी अपनेको शान्त और क्षोभरहित बनाये रखूं—ऐसी उसकी दृष्टि रहती है और योग्य अयोग्य काम करनेका विवेक भी रहता है। तो हम अपना जीवन विनयसहित बितायें।

एक लाभ तो हम अपने मनुष्य जीवनका विनयसे उठायें। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि हम दूसरोंका उपकार करें, शरीरसे दूसरोंकी सेवा करें, और और प्रकारसे दूसरोंकी सहायता करें, दीन दुखियोंकी मदद करें। दीन दुखियोंकी मदद करनेसे अपने आपके कर्मफलके चिंतनकी बात बनती है। अपनेमें यह भाव बनता है कि यदि हम भी धर्मबुद्धिसे न रहें तो हमको भी यही दशा प्राप्त होगी। सबसे बड़ा लक्ष्य यह है कि दूसरोंका उपकार करते समय विषयोंकी ओर अथवा गंदे परिणाम नहीं रहते।

मोक्षमार्गमें यदि विनयकी प्रवृत्ति है तब तो वह सर्वत्र शान्तिका अनुभव होता रहेगा। देव, शास्त्र, गुरुके प्रति विनयभाव रखना श्रावकोंको अत्यन्त आवश्यक है। वैयावृत्ति सेवा यह तो गृहस्थ किया ही करते हैं। चार प्रकार का दान भक्तिपूर्वक देना यह भी उनकी सेवा है। भावपूर्वक उनसे नम्रतासे बोलना चाहिये। इस वचनव्यवहारसे उनका क्लेश मिट जाता है। तो गृहस्थ तन, मन, धनसे सेवा किया ही करते हैं। वैयावृत्ति मेरी सहीरूपसे बनी रहे, इसका भी कर्तव्य होना चाहिए। स्वाध्याय एक खास तप है। ज्ञानप्रकाश हुए बिना तो जीवन बेकार है। पशु पक्षियों का जो जीवन है, सो ही उस मनुष्य का जीवन है। जिसके उपयोगमें ज्ञानप्रकाश नहीं है उस मनुष्यका जीवन क्या है? क्योंकि भेदविज्ञान बिना, सम्यग्ज्ञान पाये बिना जीवनमें बड़ा आराम भी भोग ले तो इतना ही फर्क रहा कि उन पशु पक्षियों से कुछ अधिक भोग भोग लिया। मगर जो काम पशु पक्षियोंने किया सो ही काम इस मनुष्यने किया। जैसे स्वाध्याय साधुवोंका परम तप है ऐसे ही गृहस्थोंको भी यथाशक्ति यह तप करना चाहिए। इसी प्रकार कायोत्सर्ग तप है। उत्सर्ग तप क्या है? बाह्यपदार्थोंका त्याग करना, उनसे ममताका परित्याग करना और जो अपनेको मिला हुआ शरीर है, उसकी ममताका त्याग करना, रागादिक विभावोंकी अपनायतका त्याग करना, ये सब उत्सर्ग तपकहलाते हैं। यह तप साधुवोंको बताया गया, उनके लाभके लिए है। यह तप गृहस्थ भी करें तो उनके लाभके लिए है।

समता व स्तवन नामक आवश्यक—रागद्वेषका परिणाम न होकर समता भाव रहना। समता ही सुख है, समता ही शान्ति है, समता ही मोक्ष है, समता ही मोक्षमार्ग है, धर्मपालन समता ही है। जो पुरुष रागद्वेष कर समतापरिणाममें रह सकता है, उस पुरुषने धर्मपालन किया है। समता आवश्यक कर्तव्य है, पर गृहस्थोंमें समता साधुवोंके समान भी बन सकती, फिर भी जितना हो सकता है उतना समता पालें। समतापरिणाम धारण करनेकी इच्छा हो तो यह निर्णय बना सकते हैं कि हमें ऐसे ऐसी स्थितिमें समता तो रखना ही आवश्यक है। बहुतसी घटनायें ऐसी आती हैं कि हम थोड़ासा गम खायें, ५ मिनट और घटना देख लें तो इसके बाद ऐसी स्थिति बदल जायेगी कि मुझे समताका पूरा मौका मिल जाता है। पर पर आदत तो कुछ ऐसी बनी है कि बीच बीचमें दूसरेकी बात काट काट अपनी बात रखते जाते हैं कितनी ही घटनायें ऐसी हैं कि जिनमें समता रखना हमें आवश्यक हो जाता है और उसके अभ्याससे हम शान्ति पा सकते हैं। हमारी दैनिक चर्यावोंमें और जैसे यात्रा प्रसंग चल रहा है, इसमें अव्यवस्था होने का कारण जरूर हो सकता है इसके ही कारण अधीरता भी है। हर बातमें अधीरता है। समता परिणाम अभी भी शान्तिका कारण है और भावी कालमें भी शान्ति बरतेगी। समतापरिणाम गृहस्थोंको भी अपनी पदवीके अनुसार धारण करना चाहिए। दूसरा कर्तव्य बताया है स्तवन। जिनेन्द्रप्रभुके गुणोंका कीर्तन करना यह स्तवन कहलाता है।

उन वचनोंसे खुदको भी शान्ति मिलती है। तो जिनेन्द्र भगवानके वचनोंके मन, वचन, काय इन सबकी सावधानी है। तो उपयोग विशुद्ध बननेसे पुण्यलाभ भी है और धर्मलाभ भी है। यह कर्तव्य साधुवोंके लिये क्यों रखा ? चूंकि उनके आरम्भ परिग्रह नहीं लगा है, आजीविकाकी भी कोई चिंता नहीं इसलिए रख लिया। वैसे गृहस्थोंके लिए भी यह काम है। इस कर्तव्य को करके पुण्यलाभ व धर्मलाभ दोनों ही मिलते हैं।

यथाशक्ति आवश्यकोंकी करणीयता—अब ६ आवश्यक कर्तव्य हैं—समता परिणाम रखना, जिनेन्द्र देवका स्तवन करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। ये ६ साधुवोंके आवश्यक कर्तव्य हैं और यही गृहस्थों के कर्तव्य हैं। गृहस्थ अपनी सीमामें करते हैं, साधु अपनी पदवीके अनुसार करते हैं। ये आवश्यक कर्तव्य ६ माने गए हैं जीवमें। यों तो आवश्यक शब्दका अर्थ रुढ़िके अनुसार जरूरीसे लिया जाता है। यह आवश्यकका फलित अर्थ है। शब्दका फलित अर्थ है। शब्दार्थके अनुसार आवश्यक में तीन शब्द हैं—अ, वश और क अर्थात् जो काम आदिकके वश न हो उसे अवश कहते हैं। जो पुरुष ममताके आधीन न हों, जो पुरुष इन्द्रियके आधीन न हों, वे पुरुष धन्य हैं। जो परेन्द्रिय विषयोंके आधीन नहीं हैं, जो रागस्नेहके बन्धनमें नहीं है—ऐसे पुरुष होते हैं साधु, आत्म साधना करने वाले महापुरुष। वे साधु पुरुष अत्यन्त स्वतन्त्र हैं। उन साधु पुरुषोंके करनेका जो काम है वही आवश्यक काम है। अब चूंकि मुमुक्षु जिज्ञासु आत्महिताभिलाषी पुरुषोंके करनेका जो काम है वह है जरूरी काम। बाकी काम जरूरी नहीं हैं ऐसा जानकर आवश्यक शब्दका अर्थ जरूरी प्रचलित हो गया है। तो आत्महितके लिए ये सब जरूरी काम हैं। इन ६ आवश्यकोंको अपनी पदवी के अनुसार गृहस्थोंको भी पालन करना चाहिये और साधुवों को भी।

प्रतिक्रमण व वन्दनावश्यक—तीसरा आवश्यक है वंदना। वीतराग अनन्त सर्वज्ञदेवके गुणोंका स्मरण रखते हुए सिर हाथ आदिक जो नम्र हो जाते हैं ऐसी नम्रताका नाम है वंदना। यह वंदना भी श्रावकके लिये प्रतिदिन किया जाना आवश्यक है। चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना इसका नाम है प्रतिक्रमण। व्यवहारदृष्टिसे तो सावधान होकर निष्कपट होकर गुरुजनोंके समक्ष अपने दोषोंको प्रकट करना और गुरुजन जो भी आज्ञा दें उस पर सन्देह न करते हुए आज्ञाका पालन करना यह है प्रतिक्रमण। मगर व्यवहार प्रतिक्रमणमें यह गारन्टी नहीं है कि लगे हुए अपराध दूर हो जायें। लेकिन जिनकी केवल एक बाह्यदृष्टि है—जब कोई दोष लगे तो गुरुवोंसे कहना चाहिये और जो गुरुजन कहे उसे पालन करना चाहिये ऐसा जो करते हैं, पर मनमें श्रद्धा नहीं, उस प्रकारका भाव नहीं तो उससे शुद्धि नहीं है। प्रतिक्रमणमें गुरुजन जो कुछ कह दें, उसमें सन्देह न करके पालन करने की बात करनी चाहिये। अब परमार्थदृष्टिसे प्रतिक्रमण सुनें। जिसके दोष लगे हैं ऐसा वह ज्ञानी पुरुष अपने आपमें चिन्तन करता है कि मैं क्या हूँ और ये निमित्त भी जो हो गए ये क्या हैं ? इन रागादिक भावोंसे निराला केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ मैं और यह स्वभाव उपकारी है, शाश्वत है, निष्कलंक है, परपदार्थ और औपाधिकतासे रहित है। इस स्वभावमात्र निज अन्तस्तत्त्वमें अपराध होते कहाँ हैं ? उसमें रागादिकही कहाँ हैं ? ऐसा उसे परमार्थदृष्टिसे नजर आ रहा है। अब इस परमार्थदृष्टिको कर लेने वाले पुरुषका बाह्यप्रतिक्रमण उसका निमित्त है।

मेरे ये पाप मिथ्या होवें, ऐसा सुन करके कुछ ऐसा अवधारण कर सकते हैं कि यह तो एक खाना पूर्ति करने की बात है। कोई अपराध कर ले तो उस समय यह बोलना चाहिए कि मेरे अपराध मिथ्या होवें। तो उसका प्रतिक्रमण पूरा हो गया, मोक्षमार्गमें बढ़ गया। जिसकी दृष्टि निर्विकार सनातन चैतन्य भावके उपयोगमें लग गयी है और अनुभव यथार्थ बना उसके यह सावधानी बनती है कि यह मेरा अपराध तो मिथ्या था, ये अपराध करना मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा जब अपने आपके विशुद्ध स्वरूपका ज्ञान बनता है तो उसका यह परमार्थदृष्टिका प्रतिक्रमण बना और निष्कलंक विशुद्ध चैतन्यस्वभावके दर्शनसे प्रतापसे अपराध कर्म ये सब खिर जाते हैं। ऐसा प्रतिक्रमण साधुजन तो करते ही हैं और गृहस्थजनोंको भी करना चाहिए। इसका अन्तर्दृष्टिसे सम्बन्ध है और ऐसी अन्तर्दृष्टि गृहस्थ भी कर सकते हैं।

प्रत्याख्यान व आवश्यकसे व्युत्सर्ग—पांचवा आवश्यक कर्म है प्रत्याख्यान । आगामी काल ही से आश्रव के रोकनेका नाम है प्रत्याख्यान । जैसे जब कभी दोष लगते हैं और इतने बड़े दोष लग गए कि आपत्ति भी आ पड़े तो ऐसी आपत्तिपड़ने पर मनुष्य कह भी देते कि यह काम मुझे न करना था यह तो है प्रतिक्रमणका रूप । अब मैं आगे न करूंगा यह तो प्रत्याख्यानका रूप है । ६ ठा आवश्यक है कायोत्सर्ग । शरीरका त्याग करनेका नाम कायोत्सर्ग है । काय मायने शरीर, उत्सर्ग मायने त्याग ।

रोगपरीषहविजयका एक दृष्टान्त—रोगपरीषहविजयमें एक दृष्टान्त आया है सनतकुमार चक्रवर्ती का । जिनके रूपकी परीक्षाके लिये देव आये । जिनके रूपकी प्रशंसा सौधर्म इन्द्र द्वारा स्वर्गमें की जाती है । जब देव रूप देखने आये उस समय सनतकुमार अखाड़ेसे धूलधूसरित निकले थे और नहानेके लिए बैठे थे । धूलधूसरित शरीर को देखकर देवोंने उनके रूपकी बड़ी प्रशंसा की । कुछ लोगोंने कहा कि अभी क्या है ? जब सिंहासन पर सजधजकर बैठे हों उस समय इनके रूपको देखो । दूसरे दिन दिनके दो बजे वे देव आये जबकि सनतकुमार सजधजकर सिंहासन पर बैठा हुआ था । उसे देखकर देवोंने माथा धुना कि ओह ! अब वह रूप नहीं रहा जो पहिले था । उसका कारण क्या है कि सजधजकर जानबूझकर कोई अपनी सुन्दरता बनाये तो रूपमें फर्क हो जाता है । दूसरे ज्यों ज्यों समय गुजरता जाता है त्यों त्यों रूप फीका होता जाता है । जैसे जलपूर्ण घटमें सींक द्वारा एक बूंद भी जल बाहर निकाल दो तो जलमें कमी मालूम तो न पड़ेगी, पर जल कम तो हो ही गया । ऐसे ये सनतकुमार चक्रवर्ती जो रूपमें बड़े प्रशंसनीय थे विरक्त हुए, मुनि बने । कोई असाताका ऐसा उदय आया कि कोढ़ हो गया । एक देव वैद्यका रूप धरकर सनतकुमार मुनिकी परीक्षाके लिए आया । उनके पास कई बार आ आकर यह आवाज लगाई कि हमारे पास चर्मरोग की पेटेन्ट औषधि है, औषधि बेकार न जाएगी, मुफ्त इलाज होगा । तब सनतकुमार मुनिने उसे बुलाकर कहा कि तुम क्यों बार बार यहां आकर पुकारते हो ? तो वह देव वैद्य बोला कि आप हमसे चिकित्सा करायें । तो सनतकुमार मुनि बोले कि हमारे जो जन्ममरणका एक महारोग लगा है उसे आप मिटा दें । तब देव चरणोंमें झुककर उनके ज्ञान की प्रशंसा करने लगा । प्रत्येक परिस्थितियोंमें जब यह जीव सबसे निराला अपने ज्ञानस्वरूपको देखता है तो सारी विपदायें शांत हो जाती हैं । ज्ञान बलसे शारीरिक वेदनावोंको समतापूर्वक सहन करनेको रोगपरीषहविजय कहते हैं ।

मलपरीषहविजय—अब मलपरीषहविजयकी सुनिये । शरीरमें मल जम जाया करता है । उसका भी ज्ञानी जीव रंच खेद नहीं मानते । शरीर पर लगे हुए मलको निरखकर उसके धोने स्नान करनेकी वाञ्छा नहीं करते । गृहस्थ लोग तो शरीरके मलको साफ करनेके लिए बहुत बहुत तेल साबुन आदि लगाकर कई बार स्नान किया करते हैं, पर ज्ञानी सन्त पुरुष शरीरको महामलिन हो जाने पर भी स्नान नहीं करते । ऐसे मलपरीषहके पालनहार ज्ञानी संत अपने आपको निराले रागद्वेषरहित ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखकर तृप्त रहा करते हैं । कोई विशेष बाधा जैसी बात आए तो वह ज्ञानी चिंतन करता है कि हे शरीर तू तो इतना मलिन बन गया है कि सारे समुद्रके जलसे भी धोया जाए तो भी तेरी मलिनता नहीं मिटेगी । जैसे कोयला अन्दरसे कालिमा रखता है, उसे कितना ही धोया जाए पर उसमें सफेदी नहीं आती—ऐसे ही हे जीव ! तू अन्तरङ्गसे मलिन बन रहा है । तेरे इस शरीरके बाह्यमलको कितना ही धोया जाए तो भी तेरी वास्तविक मलिनता मिट नहीं सकती । अरे तू तो अपने आन्तरिक औपाधिक मलिनतासे भी रहित शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्रहै, यह शरीरगत मलिनता तो एक ऊपरी चीज है । इस शरीरगत मलिनता से इस आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं । यों ज्ञानी पुरुष इस देहसे स्नेह छोड़कर अपने आपके शरीरमें स्थिर होता है । अज्ञानीजन निरन्तर कुछ न कुछ बाह्यतत्त्वोंको उपयोगमें अपनाकर विह्वल रहा करते हैं । कितने ही सुखके साधन हों तो भी तृप्त नहीं होते । क्योंकि उन्हें तृप्तिका साधनभूत जो तत्त्व है वह मिला ही नहीं । तृप्ति कहाँ से हो ? किस जगह उपयोग लगायें कि तृप्ति हो ? कहीं बाहरी पदार्थोंमें उपयोग लगानेसे तृप्ति नहीं होती । तृप्ति तो अपने

आपके अन्तःस्वरूपके अवलोकनसे ही प्राप्त होगी, सर्व परका विकल्प हटानेसे ही प्राप्त होगी। रागद्वेष मोहका आश्रय करके तो विह्वलतायें ही बनेंगी। बाहरमें ये धन वैभव मकान महल परिजन मित्रजन कोई भी ऐसे नहीं हैं जिनमें उपयोग लगानेसे शांति प्राप्त हो सके। इन सर्व पदार्थोंकी रक्षा करते करते तो रात दिन बेचैन रहा करते हैं। जब परपदार्थ बिछुड़ जाता है तो उसके पीछे खेद करते हैं। कोई भी परतत्त्व यहाँ ऐसा नहीं है कि जिसका आश्रय करके जिसका सहारा लेकर दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त किया जा सके। कोई बड़ी-बड़ी प्रशंसायें ही कर दे तो उससे भी इस आत्माको कुछ भी सिद्धि नहीं प्राप्त होगी। वैसे तो यहां कोई लोग ऐसे निःस्वार्थ नहीं हैं जो अपने आपका कुछ उपकार हुए बिना दो बातें भली बोल सकें। सभी अपने अपने स्वार्थसाधनाके वश बोला करते हैं। तो यहाँ किसकी आशा करें, किससे प्रशंसा की भीख माँगें ? ये सभी जीव कर्मोंके प्रेरे हैं, मलिन हैं, स्वयं दुःखी हैं। उनकी दो प्रशंसात्मक बातोंको सुनकर कौनसा लाभ लूट लिया जावेगा ? संसारमें बाह्यमें कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं है जिसकी शरण गहें तो आत्माको शांति हो जाए, तृप्ति हो जाए। तब सर्वत्र बाहरसे अपने उपयोगको निवृत्त कर और निर्मल जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि करें, उसीका सहारा लें, उसीमें रमण करें तो संसारके समस्त संकट छूट जाने की बात बन सकेगी। ये साधुजन मल वगैरहसे विक्षिप्त नहीं होते, अपने निर्मलस्वभावको देखकर कर्मोंका निर्जरण करते रहते हैं।

तृणस्पर्शपरीषहविजय—अब तृणस्पर्शपरीषहका वर्णन करते हैं। लोकके जीव तो जरासी भी फांस लग जाए कांटेकी ही नहीं वरन् घासका लम्पा भी अंगमें लग जाए तो दुःखी होते हैं और उसके निकालने का प्रयत्न किया करते हैं। लेकिन ज्ञानी साधु सन्त जन अपने आपके स्वरूपके दर्शनमें इतनी सच्ची धुनि बनाए हुए हैं कि कदाचित तृण कांटे फांस आदिक शरीरमें चुभ जाए तो भी वे सन्तजन खेद खिन्न नहीं होते और न उसके निकालनेका उपाय बनाते हैं तो यह है उनका तृणस्पर्शविजय। गृहस्थजनोंको भी तृणस्पर्शविजयका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। अज्ञानी गृहस्थ हो तो वह तृणवेदनाके समय भी संक्लिष्ट नहीं होता। कभी कुछ पसीना आदिकका मल गृहस्थके शरीरमें भी लग रहता है तो उसमें भी यदि वह घृणा नहीं करता तो यह उसके लिए एक शोभाकी बात है। ज्ञानी पुरुष घृणाकी प्रकृति नहीं करते, अपनेको खेद खिन्न नहीं करते, जरा जरासी बात पर ग्लानि नहीं करते, जरा जरासी घटनावोंमें खेद खिन्न नहीं होते, कभी जमीन पर भी सोना पड़े तो उसमें भी कष्टका अनुभव नहीं करते। ज्ञानी गृहस्थोंको चाहिए कि वे सभी परीषहोंको सहन करनेका अभ्यास रखें। शरीरके आराममें, बड़ी सुकुमारतामें न रहें। जो सुकुमार बनते हैं वे उस सुकुमारतासे कुछ लाभ नहीं लूट लेते। इस शरीरको रात दिन खिलाते-खिलाते, उसकी चिंता रखते रखते कितना काल व्यतीत कर दिया फिर भी शरीरके ही निरन्तर दास बने रहा करते हैं। यद्यपि खाए पिए बिना गुजारा नहीं चलता पर उसीको ही महत्त्व नहीं देना है। खाने पीनेकी धुनि बनाना, उसके पीछे खेद खिन्न होना, बहुत बहुत व्यवस्थायें करना यह तो अज्ञान दशाकी बात है।

अज्ञानपरीषहजय—अब अज्ञानपरीषहजयकी बात कह रहे हैं। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे अज्ञान भाव होता है तो ज्ञानका विकास नहीं होता। साधु संतजन धर्मबुद्धिसे बहुत तपश्चरण करते हैं। किसी साधुको अधिक तपश्चरण करने पर भी अवधिज्ञान आदिकका विकास नहीं हुआ अथवा श्रुतज्ञान भी पूर्ण नहीं हुआ तो ऐसी स्थिति में वे साधुजन विचार करते हैं कि आत्माका हित वीतरागतामें है। ज्ञान विकास होगा यह तो आत्माके स्वभावकी बात है। जब आत्मा अत्यन्त विशुद्ध होगा तो ज्ञानविकास होना ही पड़ता है और हितकी बात देखो तो तीन लोक और अलोकको जान लेनेसे आत्माका हित नहीं है, किंतु रागद्वेष भाव रंच भी न रहे उसे वीतरागतासे आत्माका हित है। हम वीतरागताके मार्गमें चल रहे हैं। ज्ञानविकास न हो सके, ऐसे ही ज्ञानावरण कर्मका उदय है तो इससे आत्माका कुछ हित नहीं है। आत्माका हित तो भेदविज्ञान करनेमें है। भेदविज्ञानी मुनि किसी भी स्थितिमें खेद खिन्न नहीं होते। कोई दूसरे पुरुष उस मुनिको गाली भी बक, निन्दा भी करें कि जिन्दगी गुजर गई इस मुनिकी, वृद्ध

भी हो गया, तपश्चरण भी खूब किया, पर फल क्या मिला ? ज्योंका त्यों है, कुछ भी तो ज्ञान नहीं बढ़ा। ऐसी बातें लोगोंसे सुनते हैं तिसपर भी ये साधुजन मनमें खेद नहीं लाते। वीतरागताका महत्त्व दिया है उन ज्ञानी सन्तोंने, इस कारण अज्ञानपरीषहको वे जीत लेते हैं। श्रावक जनोंको भी चाहिए कि वे कोई लाभकी बात न पायें तो भी धर्मभावनाको न छोड़ दें। जैसे पूजा करते, श्रावकाचार पालते, सामायिक ध्यान आदि करते हुए बहुत दिन हो गए फिर भी कोई विशिष्ट ज्ञान अथवा कोई सांसारिक चमत्कारकी बात नहीं मिल पाई तो भी अपने चित्तको डावाडोल नहीं करना चाहिए। धनिक भी नहीं बन पाए तो क्या है ? जो धन त्यागने योग्य है वह पहिलेसे ही न हुआ पासमें तो यह एक अच्छी ही बात है। तीर्थंकरोंका भी बिना उस धन वैभवके त्याग किए गुजारा न चल सका, वे भी बिना इसके त्यागे निर्वाण नप्राप्त कर सके। तो किसी भी परिस्थितिमें अपने आपको धर्मपथसे विचलित न कर दें, मनको हटा न लेवें।

अदर्शनपरीषहजय— अदर्शनपरीषहजयका वर्णन कर रहे हैं। संसारी जीव जितने काम करते हैं, वे किसी न किसी प्रयोजनको लेकर करते हैं। उस प्रयोजनकी सिद्धि न हो तो वे खेद करने लगते हैं और कभी कभी तो धर्म की श्रद्धा भी खो बैठते हैं। बहुत दिन हो गए तपश्चरण करते करते, शास्त्रोंमें लिखा है कि तपश्चरणके प्रसादसे अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान हो जाता है, श्रुतज्ञान पूर्ण हो जाता है। ये कुछ न हुए तो यह सब गप्प हैं, ऐसी बात चित्तमें नहीं लाते, अश्रद्धाकी बात अपने उपयोगमें नहीं लाते यही अदर्शनपरीषहविजय है। धर्ममार्गसे चलते हुए भी यश वैभव ज्ञान आदिकका लाभ न हो तो गृहस्थ जन भी उसमें खेद नहीं लाते और अपनी श्रद्धाको नहीं बिगाड़ते, बल्कि वे और अधिक सावधान होते हैं, धर्ममें विशेषवृत्ति करते हैं।

किसी राजाने अपनी सेनाका बड़ा खर्च उठाया और इस आशासे कि मेरे राज्य पर कोई शत्रु आक्रमण न कर सके और किसी समय कोई शत्रु उस पर आक्रमण कर दे तो क्या राजाको यह विचारना चाहिए कि हटावो इस सेनाको, सबको इन पदों हटा दो ? देखो बीसों वर्षसे इस सेना पर खर्च करता चला आया हूं और देखो शत्रुने आक्रमण कर ही दिया तो क्या राजाको ऐसा सोचना चाहिए ? अगर ऐसा सोचता है तो उसका राज्य खत्म। उस समय तो राजाको यही ध्यान करना चाहिये कि किसी शत्रुने आक्रमण किया तो सेनाको पुरस्कार वगैरह देकर उसका उत्साह और बढ़ावे, सेना पर और अधिक खर्च करे। ऐसा यदि वह करता है तो उसे सिद्धि मिलती है, जो कुछ वह चाहता है। इसी प्रकार यहाँ भी देखिए कि धर्म करते करते भी यदि कोई रोग आ जाए, विपत्ति आ जाए, इष्ट-वियोग हो जाए, अनिष्ट संयोग हो जाए तो ऐसे उपसर्गोंके आने पर श्रावक हो अथवा मुनि, उसे क्या यह सोचना चाहिए कि हम तो धर्म इसलिए कर रहे थे कि हम पर संकट न आए, पर संकट आ ही गया तो ऐसे धर्मका त्याग दें ? यदि वह ऐसा करता है तो उसके समान अज्ञानी और किसे कहा जाए ? उस समय तो यह ध्यानमें लाना चाहिये कि अब आया है समय परीक्षणका, जिसमें यदि हम पास हुए तो हमें आगे सब आसान है। यदि संकट आए हैं, उप-सर्ग आए हैं, विपत्तियाँ विडम्बनायें सामने खड़ी हैं तो हम इस धर्ममें अपना और उत्साह बढ़ाएं। परवाह न करके बाह्यमें दृष्टि न पसारकर हम अपने विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपके दर्शनमें चलें, वहीं बैठें, धर्मपालन करें। यदि वह इस प्रकार धर्मपालनमें अपना चित्त देता है, सावधान बनता है सो नियमसे उसके सब संकट, उसकी सब विडम्बनायें दूर होंगी, आत्मसंतोष होगा, कर्मोंकी निर्जरा होगी। ज्ञानी पुरुष तपश्चरण करने पर भी यदि सिद्धि प्राप्त नहीं करते तो वे अपने कर्तव्यमें रंच भी शंका नहीं करते, अपने संयमके पालनमें रंचमात्र भी संदेह नहीं करते, रंच भी खेद खिन्न नहीं होते, सम्यक्त्वको दूषित नहीं करते। इसीको अदर्शनपरीषहजय कहते हैं।

प्रज्ञापरीषहजय— धर्ममार्गमें चलनेके प्रसादसे कभी ज्ञान बढ़ जाए, अवधिज्ञान प्रकट हो, श्रुतज्ञान भी विशिष्ट बढ़ जाय, वहाँ बुद्धिका विकास हो जाए तो उस पर मान न करना सो प्रज्ञापरीषहजय है। ज्ञान प्राप्त कर

लिया और अभिमान बना लिया तो वह ज्ञानलाभ बेकार रहा। जैसे यहांके लोकव्यवहार में कोई पुरुष ज्ञानी हो और वह अपने ज्ञानकी स्वयं तारीफ करके लोगोंमें अपना अभिमान बगराये तो उसका ज्ञान बेकार ही रहा, खुदको भी शान्त न बना सका और लोगोंकी निगाहसे भी भी गिर गया यह तो दुनियाकी बात है। यहाँ मोक्षमार्गकी बात कह रहे हैं कि संयम और तपश्चरणके प्रसादसे बुद्धिका विकास हो जाए, उस पर अभिमान करे तो वह ज्ञानसे नष्ट हो जायेगा, धर्मसे च्युत हो जाएगा। ज्ञानी पुरुष प्रकृत्या ज्ञानबलके कारण ज्ञान प्राप्त होने पर भी रंच अभिमान नहीं करते। श्रावकोंका भी यह कर्तव्य है कि थोड़ासा तत्त्वका शास्त्रका बोध पा लें तो रंचमात्र भी अभिमान न करना चाहिए। जरा चिंतन कीजिये कि गणधरदेवका जो ज्ञान है सम्पूर्ण अङ्ग पूर्वज्ञानरूप श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान—उसके सामने हमारा ज्ञान क्या है ? अभिमान न करना, अपने लक्ष्यको संभालना, अपने धर्मपथमें विहार करना यह कर्तव्य गृहस्थजनोंका भी है।

सत्कारपुरस्कारपरीषहजय व शय्यापरीषहजय—अब वर्णन है सत्कारपुरस्कारपरीषहजयका। देखिये संसारके ये मन वाले जीव सब अपना आदर सत्कार चाहते हैं ऐसा उनके अज्ञाने अथवा लोभ लगा है और आदर करने वालेको मित्र और आदर न करने वालेको शत्रु समझ लेते हैं। ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति तो देखिये—कभी देवेन्द्र, धरणेन्द्र आदि ऊंचे ऊंचे विवेकी पुरुष भी सत्कार करते हैं, अर्घ देते हैं, पूजा करते हैं, इतने पर भी ज्ञानी पुरुष उसमें बह नहीं जाते, उसमें अपना लाभ नहीं समझते और कदाचित् कोई अपमान करे तो उसमें वे विषाद नहीं करते। सम्मान तथा अपमानमें ज्ञानी पुरुष समताका भाव रखते हैं। शय्यापरीषहजय—कङ्करीली, पथरीली जमीनमें शयन करनेमें दुःखी न होकर समताभाव धारण करनेको शय्यापरीषहजय कहते हैं। गृहस्थोंको भी इस ओर धुन न रखना चाहिए कि मेरी शय्या बहुत कोमल हो। अभ्यास ऐसा करें कि चाहे चटाई पर अथवा यों ही जमीन पर सोना पड़े तो भी कष्ट न मानें। तो कङ्करीली पथरीली जमीन पर सोते हुए भी खेद न मानना—इसको शय्यापरीषहजय कहते हैं।

चर्यापरीषहजय व बधबन्धनपरीषहजय—अब है चर्यापरीषहजय। ज्ञानी पुरुष किसी प्रकारकी सवारी की चाह नहीं करते। हाथी घोड़ा रथ आदिक सवारियां चला करती हैं, उनका ध्यान भी न लायें, चलते समय पैरमें कांटे भी लग रहे, अनेक बाधायें भी आ रहीं तो भी खेद न लाना, इसका नाम है चर्यापरीषहजय। गृहस्थोंको भी चाहिए कि अपना कोई काम नहीं बिगड़ रहा, समय भी पड़ा हुआ है, दो चार फर्लांग ही जाना है तो पैदल ही चले जानेका उत्साह भंग न करें। शरीरको सुकुमारतामें रखने के लिए, देहका आराम बनानेके लिए सवारी बिना चल ही न सकें—ऐसी सुकुमारताकी प्रकृति न रखनी चाहिए। बधबन्धन परीषहजय—कोई बधबन्धन आदिका प्रसंग आ जाये तो भी ज्ञानी पुरुष समतापरिणाम बनाते हैं। गृहस्थावस्थामें तो बधबन्धनकी बहुतसी घटनायें आती हैं। यदि गृहस्थ पर कोई गृहस्थीके कार्यमें बाधा डालता है तो गृहस्थ उसका बदला चुकाता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका जीवन दूभर हो जाता है। साधुसंतजनोंके तो बधबन्धन आदिकके समयमें भी उस प्रकारका कुछ भी विकल्प नहीं है। यही उनका बधबन्धनपरीषहविजय है।

परीषहविजयाभ्यासकी आवश्यकता—गृहस्थाचारका वर्णन करते हुए आचार्यदेव इस प्रसंगमें यह समझा रहे हैं कि गृहस्थोंको भी कष्टसहिष्णु होना चाहिए। जब यह जीव सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूप को निहारता है और जानता है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं, इससे आगे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तो उस समय उसमें समस्त कष्ट सहनेकी क्षमता हो जाती है और जब अपने स्वरूपकी सुधि छोड़कर बाहरी पदार्थोंसे हितकी आशा इच्छा रखता है तो उसमें कायरता जगती है और कष्ट सहनेकी क्षमता फिर नहीं रहती। तो कष्ट सहनेकी क्षमता जीवमें तब आती है जब वह अपने स्वरूपकी सुधि रखता है। अहो ! मेरे स्वरूपमें कष्ट है ही कहाँ ? जब अपनेको कष्टरहित स्वभाव वाला देखता है तो कर्मोदयसे उत्पन्न हुए कष्टमें थोड़ा बहुत वियोग भी आ जाये तो भी थोड़ा बहुत वियोग

सहनेकी क्षमता हो जाती है । जीवमें दो उन्मुखतायें हैं—स्वोन्मुखता व परोन्मुखता । अपने आपकी ओर उन्मुख हो, अपने स्वरूपका ग्रहण करें तो उसके कोई संकट नहीं हैं, पर इसके लिए चाहिए ज्ञानबल । जैसे जगत्के और अनन्त जीव हैं, मुझसे निराले हैं ठीक उसी तरह अत्यन्त भिन्न निराले घरमें उत्पन्न हुए ये पुत्रादिक भी हैं । इसमें कोई सदेह की बात नहीं है । तो जब यथार्थताकी ओर दृष्टि देते हैं तब आत्माको अशान्ति नहीं रहती और जब यथार्थताके स्वरूपसे चिगकर बाहरी मायाजालोंको अपनाते हैं, लोगोंको निरखते हैं अपनी शान पोजोशनकी बात निरखते हैं तो वहाँ अशान्ति उत्पन्न होती है । कष्टसहिष्णु बननेके लिए श्रावकोंको चाहिए कि अपने आत्मस्वरूपकी भावना अधिकाधिक किया करें, इन परीषहोंका मुख्यतया तो मुनिजन विजय करते हैं, पर श्रावकोंको भी अपनी शक्ति माफिक परीषहोंका विजय करना चाहिए । कोई पुरुष कैसा ही कष्ट दे पर अपने कष्टरहित स्वभावको निरखकर उस बाह्य कष्टको समतापूर्वक सहन कर लेना यही है बधबन्धनपरीषहजय । इस समय शरीरमें आत्मा बंधा हुआ है और इतना परतन्त्र है निमित्तनैमित्तिकभाववश कि शरीरको छोड़कर आत्मा दूसरी जगह जरा भी बैठ नहीं सकता । जहाँ शरीर जाता है वहाँ आत्मा जा रहा है । जहाँ आत्माकी गति है वहाँ शरीरकी भी गति है । शरीरमें कुछ भी पीड़ा हो तो उसका अनुभव यह आत्मा अपनी कल्पनासे दुःखरूपमें करता है । ऐसा परस्परमें आत्माका भिड़ाव है । लेकिन इतने पर भी जब यह आत्मा अपने उस अमूर्त एकाकी ज्ञानानन्द स्वरूप जो सबसे अलिप्त है वह अपने आपमें ही है ऐसे उस स्वरूपको निरखता है तो फिर इस आत्मामें कष्ट सहनेकी क्षमता आती है ।

निषद्यापरिषहजय व स्त्रीपरीषहजय—निषद्यापरीषहजय—निषद्या नाम बैठनेका है । जहां हिंसक जीव रहते हों, जहाँ व्यन्तर देवोंका वास हो, अंधेरी गुफायें, श्मशान आदिक स्थानमें निर्भय होकर बैठे रहना व धर्मध्यान करना, किसी भी प्रकारका कष्ट न मानना और कष्ट भी हो तो समतासे सह लेना सो निषद्यपरीषहजय है । जब अपना मन अपने वशमें रहता है तब आत्मज्ञान इतना बढ़ जाता है कि मन वशमें रहने लगेगा । यह ज्ञान मनको जिस प्रकार चलाये सो चले, जहाँ रमाये सो रमे, जहाँसे हटाना चाहे तुरन्त हटाये, अपने आपके स्वरूपमें मनको लगाना चाहे तुरन्त लगाये, तब इस प्रकार आत्मज्ञान सबल होता है । मनको वशमें कर लिया जाता है तो उस समय यह जीव फिर कष्टका पात्र नहीं रहता । मन वशमें नहीं है, बाह्यकी ओर लगता है, बाह्यपदार्थोंमें दुराग्रह करता है । जैसा सोचे, जैसी बात मनमें आए, उसकी प्राप्तिके लिए दुराग्रह बन जाता है तब यह जीव कष्टमें होता है । जीवका स्वरूप तो कष्टरहित आनन्दमय ज्ञानमात्र है । उसके सत्त्वमें देखो तो किसी प्रकारकी बाधा नहीं है और जब अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्यविषयोंमें लग गए, इन्द्रिय विषयोंकी पूर्तिमें ही हित मानने लगे तो उस समय यह मन उद्दण्ड हो जाता है और आत्मा दुःखी हो जाता है । जहाँ मन वशमें है वह किसी भी जगह हो, दृढ़तासे बैठकर ध्यान करता रहता है । अन्तिम परीषहविजय बताया है स्त्रीपरीषह विजय । संसारका जन्ममरण इतना परिभ्रमण जो कुछ हो रहा है, उसका मूल कारण तो अज्ञान है, पर साथ ही साथ सब वेदनावोंमें, सब पीड़ावोंमें काम वेदना बहुत निकृष्ट और अहित करने वाली है । साधुजन स्त्रीपरीषहका विजय करते हैं । रूपवती नाना हावभाव दिखाने वालों जो कायर पुरुषोंको अपने नेत्र कटाक्षोंसे विवश कर दे, ऐसी स्त्रीके समक्ष भी अपने चित्तको न डिगाता, अपने आपमें दृढ़ रहना सो स्त्रीपरीषहजय है । यों गृहस्थोंको भी यथाशक्ति स्त्रीपरीषहजयका अभ्यास करना चाहिए । यदि गृहस्थ ऐसा कर सके तो समझो कि वे भी मोक्षमार्गमें हैं ।

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्त भीतेन ॥२०८॥

उक्त प्रकार बताई गई बाईस परीषहोंको समतापूर्वक सहना चाहिये । ऐसे विशुद्ध मनसे इन परीषहोंको सहना चाहिये कि मन संक्लेश परिणामोंसे मुक्त रहे । साधकको संक्लेशके निमित्तोंसे भीत रहना चाहिये । साधक ऐसे निमित्त तो न मिलावें जिसमें संक्लेश परिणाम हो सकनेकी संभावना हो, किन्तु कोई उपसर्ग आ जावे तो उसे समता-

पूर्वक सहे। हितमार्गका सिद्धान्त है कि बिना कष्टके, आराममें ही रहकर जो ज्ञानऔर आत्मनियन्त्रण साधा जाता है वह कभी परीषह उपसर्ग आने पर स्खलित हो सकता है, अतः ज्ञान समझ कर भी कष्टोंको सहनेका अभ्यास बनाना चाहिये। कष्टसहिष्णुता होने पर कभी उपसर्ग आये तो उस समय साधित ज्ञान ध्यान विचलित न हो सकेगा, साधुजन तो २२ परीषहों पर भली प्रकार विजय करते ही हैं, गृहस्थजन भी अपनी शक्ति अनुसार परीषहों पर विजय प्राप्त करते रहें। परीषहविजय कर्मनिर्जरा विशेषतया होती है।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०६॥

मुक्त्यभिलाषी गृहस्थ द्वारा विकलरत्नत्रयका पालन—प्रति समय गृहस्थोंको विकलरत्नत्रयका पालन करना चाहिये। मुक्तिकी इच्छा रखने वाले ये गृहस्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको एकदेश रूपसे पालन करते हैं अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता तो इसमें है कि अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका श्रद्धान करें, उसका उपयोग रखें, और उस ही आत्मस्वरूपमें मग्न होवें, इसे कहते हैं रत्नत्रय, पर ऐसा रमण साधुजनोंके तो सर्वदेश रूपसे हो सकता है, चूंकि गृहस्थोंके आरम्भ और परिग्रह लगा है, कुटुम्ब परिवार मेल मिलाप आदि सभी तरहके प्रसंग लगे हैं, उनका उपयोग आत्मरत्नत्रयमें लग कैसे सकता है? इसलिए उनके विकलरत्नत्रय कहा गया है। सकलरत्नत्रय धर्म तो मुनियोंका है और विकलरत्नत्रय धर्म गृहस्थोंका है। सकलरत्नत्रय धर्म तो साक्षात् मोक्षका मार्ग है और वह परम्परा मोक्षका कारण है। इसलिए यदि समग्र रत्नत्रय सिद्ध करनेकी शक्ति नहीं है तो विकलरत्यत्रयको तो धारण करना ही चाहिए अर्थात् गृहस्थोंको देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान— इन ६ कर्तव्योंमें लगना चाहिये और अपने आत्माके स्वरूपकी स्मृति बराबर रखनी चाहिए। यह मैं आत्मा सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, ऐसी आत्मस्वरूपकी दृष्टि यदि रही आयेगी तो आत्मा आकुलित न होगा।

कल्पनाओंसे आकुलताओंका आविर्भाव—आकुलतायें हैं क्या? किन्हीं आकुलतावोंको ले लो, कोई कहे कि मेरा यश नहीं फैलता, लोग सम्मान नहीं करते, मुझे तो बड़ा क्लेश है। अरे क्लेश रंचमात्र भी नहीं है, लोग लोगकी जगह हैं, तुम तुम्हारी जगह हो, ये लोग कोई प्रभु नहीं हैं जो कुछ इसको अच्छा कह दें तो अच्छा हो बन जाय। अरे लोग भी संसारी प्राणी हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं। क्या दुःख है तुम्हें? अपने आपके स्वरूपको देखो वहाँ कोई कष्ट नहीं है। कोई कहे कि हमें अधिक धन नहीं प्राप्त हो रहा है, लोग कैसे कैसे धनी हैं, हम दरिद्र हैं। उनके भी धन क्या है, बल्कि धनके कारण परेशानियां उन्हें अधिक हैं। उन परेशानियोंको चाहे वे न मानें लेकिन दिन रात बेचैन रहते हैं, उनके धनी होने से आत्माका सुधार क्या है और दरिद्र रहने से आत्माका बिगाड़ क्या है? आत्मामें शान्तिका उदय धन के कारण नहीं होता, अपने ज्ञानके कारण होता है। धन भी है किन्तु ज्ञान यदि मलिन है तो शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती और कोई दरिद्र भी है किन्तु ज्ञान उज्ज्वल है, भेदविज्ञान आत्मज्ञान सब उसके स्पष्ट हैं तो उसे शान्ति रह सकती है। तो शान्ति संतोष नामकी चीज ज्ञानकी स्वच्छता पर निर्भर है बाह्य पदार्थोंके मिलने पर नहीं। कोई कहे कि बड़ा कष्ट है—परिवारमें बहुत लोग नहीं हैं, संतान नहीं है आदिक कुछ भी बात कहे, भला बतलावो उसे क्या दुःख है? अरे संतान तो ज्ञानका नाम है जो कि आत्मामें संततिरूपसे चलता रहता है, पुत्र वह कहलाता है, जो वंशको पवित्र करे। वंश है आत्माका चैतन्यस्वरूप। ये पशु पक्षी मनुष्यादि कोई वंश नहीं। अपने ज्ञानको पवित्र करें, अपने आपको ही अपना पिता, अपना रक्षक बनावें, यह जीव स्वयं है तो स्वयं स्वयंकी रक्षा करे। स्वयं स्वयंके वंशको पवित्र करे। बाहरमें क्या है, कौन किसका रक्षक है, क्या दुःख है। संतान हुआ तो क्या, न हुआ तो क्या?

अपने आपके स्वरूपकी संभालसे कष्टोंका प्रक्षय—अपने आपके स्वरूपको संभालें वहाँ किसी प्रकार का कष्ट ही नहीं है, स्वभावको तो निरखिये, किस स्वभावसे आत्मा चलता है? एक ज्ञानस्वभावसे जाननमात्र

प्रतिभास करना यही है आत्माका स्वभाव। यह स्वभाव दृष्टिमें आये तो फिर आपको कोई भी कष्ट नहीं है। कोई कहे कि मेरा शरीर दुर्बल है, मेरेमें रोग है, मुझे बड़ा कष्ट है। अरे जब तक शरीर मैं हूं, यह शरीर मेरा है, इस प्रकारका अनुभव रहेगा तब तक कष्ट होगा ही और जब भेदविज्ञानके बलसे यह स्पष्ट बोध हो जायेगा कि शरीरसे निराला केवल ज्ञानमात्र मैं हूं, जो आकाशकी तरह अमूर्त हूं, निर्लेप हूं, जिसमें किसी दूसरे भावका प्रवेश नहीं है, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं। यों अपनी सुध लेगा उसे शरीरवेदना रोगका कष्ट ही न रहेगा। अपने स्वरूपको संभाले वहां कष्ट दूर होता है और जब परकी ओर दृष्टि लगाते हैं तो वहाँ कष्टकी उत्पत्ति होती है, बात तो यों है लेकिन मोही पुरुष जिन बातोंसे कष्ट पाते हैं उन ही बातोंसे कष्ट मेटनेका उपाय सोचते हैं। मोहसे, परदृष्टिसे, परके स्नेहसे कष्ट होता है लेकिन इस कष्टको जब सह नहीं पाते तो उपाय यह करते हैं कि हम परसे स्नेह करें, परको मनावें, पर से प्रीति करें। इस उपायसे कष्ट मिटता नहीं बल्कि कष्ट और बढ़ता है। एक अपने ज्ञानका सहारा लें तो कष्ट दूर हो सकता है; इसी उपायका नाम है रत्नत्रय। इसही में आत्माके प्रयोजनकी सिद्धि है।

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

बद्धोद्यम होकर मुनिकर्तव्यकी परिपालनीयताका ध्यान— गृहस्थोंको भी बड़ा उद्यम बनाकर निरन्तर इस विकलरत्नत्रयकी उपासना करनी चाहिए और रत्नत्रयका लाभ प्राप्त करके फिर निकट भविष्यमें मुनिपद का आलम्बन लेकर परिपूर्ण रूपसे रत्नत्रयकी साधना करनी चाहिए। विवेकी जीव गृहस्थीमें रहकर भी सांसारिक भोग विलाससे विरक्त रह सकते हैं। एक ज्ञान हमारा किस ओर लग रहा है बस यही हमारी जीवनयात्राकी एक निर्णय करने की बात है। हमारा ज्ञान यदि विषयकषायोंकी ओर लग रहा है तो हमारी यात्रा खराब है, हम भविष्यमें शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते, वर्तमानमें भी अशान्त हो रहे हैं। यदि हमारा ज्ञान ज्ञानस्वरूपके ज्ञानमें लग रहा है, सबसे निराले एक शून्यवत् अर्थात् रागादिक परभावों से विकल्पोंसे निराले अपने चैतन्यस्वरूपमें अपना उपयोग लग रहा है तो फिर वहां कोई कष्टकी बात नहीं आती है। कोई कहे कि यह बात गृहस्थीमें बहुत कठिन है कि हम सबको एक समान मान लें। ये हमारे हैं, ये पराये हैं यह दृष्टिमें न रहे तो गृहस्थाचार कैसे निभेगा ? तो यह बात उनकी ठीक है व्यवस्थाके नाते तो कठिन है किन्तु एक अपनी सही समझ तो बना सकते हैं। सभी भिन्न हैं लेकिन इतनों की जिम्मेदारी हम पर है, कब तक ? जब तक कि हम गृहस्थीमें रहते हैं। गृहस्थीका त्याग हो जाय निर्ग्रन्थ हो जाय, अपने आपके आत्मभावसे अपनी धुनि जुड़ जाय तो फिर किसी भी प्रकारका कोई कष्ट नहीं आने पाता। घरमें रहें और अपनी जिम्मेदारी कुछ न समझें तो गृहस्थीका काम नहीं निभ सकता, लेकिन जहां तक समझने की ज्ञान करने की बात है, सही ज्ञान बनानेमें कोई आपत्ति नहीं है। अथवा ज्ञानका स्वरूप ही ऐसा है कि वह सही सही जाना करे। गैर-सही जब जानते हैं तो उसमें कारण मोह है। मोह साथ लगा है तो पदार्थको विपरीत जानते हैं, पर ज्ञान मोहके साथ हो तब वह एक जानन का काम करता है। मोह मेरी दिशा बदल देता है। तो ज्ञानका काम यथार्थ जाननका है। यथार्थ जानकारी रहे तो इससे भी गृहस्थको बहुत शान्ति होती है। यहां भी अनेक गृहस्थ देखे जाते हैं। कोई विशेष शान्त है, कोई अशान्त है, कोई अधिक दुःखी है, कोई कम दुःखी है; तो यहां भी तो ज्ञानबलमें फर्क देखा जाता है। जिस मनुष्यके ज्ञानबल विशेष हैं वह शान्तिमें रहता है, जिस मनुष्यके ज्ञानबल नहीं है, परपदार्थोंकी दृष्टिमें फंसा है उसके अशान्ति देखी जाती है। शान्ति और अशान्ति तो ज्ञान व अज्ञानपर निर्भर हैं। यहां किसी भी परपदार्थके साथ अपना लगाव करने से, परसे स्नेह बनानेसे कुछ भी लाभ न होगा प्रत्युत हानि ही होगी। यहां कोई भी परपदार्थ शान्ति देने वाला नहीं है। हमारा ही ज्ञान अगर संभाला हुआ है तो हम शान्त हैं और यदि हमारा ही ज्ञान डिग गया तो हम अशान्त हो जाते हैं। अपने ज्ञानको विशुद्ध बनानेका अपना अधिकाधिक यत्न होना चाहिए। धन संचय, परिवार स्नेह, गप्प सप्प नामवरी आदिक ये जो सब व्यर्थकी बातें हैं। इनमें अपना जो भी समय लगाते

हैं वह व्यर्थ जाता है जिन्हें भी शान्ति चाहिए हो उन्हें अपना ज्ञान विशुद्ध बनाना होगा जिसके प्रतापसे वैराग्य भाव रहेगा। वैराग्य है तो वहां शान्ति है और जहां परका स्नेह है, परका लगाव है वहां अशान्ति है।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

विकलरत्नत्रयकी भावनामें भी मोक्षोपायताका दिग्दर्शन—यह गृहस्थ विकलरत्नत्रयका पालन करता है अर्थात् एक देश संयमका पालन करता है। देवपूजा, भक्ति, दया, दान ये सभी प्रकारके पुण्यकर्म भी करता है, तो इस पवित्र पुण्यकार्यके करनेमें जो कर्मका बन्ध होता है वह कर्मबन्ध इसके स्वभावके कारण नहीं हो रहा, किन्तु राग लगा हुआ है उससे हो रहा है। जैसे भगवानकी भक्ति कर रहे हैं मंदिरमें तो उस समय पुण्यकर्मका बन्ध होता है, लेकिन यह भी ध्यानमें लायें कि जिसको आत्माका परिचय है, परमात्माके स्वरूपका ज्ञान है वही परमात्मा की सच्ची भक्ति कर सकता है। तो भक्ति करनेके समयमें इस जीवको राग भी लग रहा है और वैराग्य भी चल रहा है। ज्ञान और वैराग्य जिसके हैं वही पुरुष परमात्माके स्वरूपकी भक्ति कर सकता है। जो पुरुष विषयान्ध हैं, रागी हैं मोही हैं वे परमार्थ भक्ति नहीं कर सकते और कभी परमात्माका नाम भी लें तो उन्हें स्वरूपका बोध नहीं है, केवल यही समझते हैं कि परमात्मा, प्रभु, ईश्वर हमें सुख देगा, हमारी इच्छाकी पूर्ति करेगा इसलिए नाम लेते हैं, पर परमात्माका यथार्थस्वरूप जाने बिना, आत्माका अनुभव किए बिना इस जीवको परमात्मामें भक्ति भी नहीं उमड़ सकती। तो परमात्मामें जो भक्ति उमड़ती है वह केवल रागका काम नहीं है, ज्ञान वैराग्य और राग होता है ये तीनों साथ-साथ भक्तिके समय चल रहे हैं, इनमें से किसी एकको हटा दें तो भक्तिका रूप ही न बनेगा। जैसे किसी पुरुष को ज्ञान नहीं है कि परमात्मा क्या कहलाता, आत्माका क्या स्वरूप है तो उसको वैराग्य भी कहांसे आयेगा और राग तो रहेगा, पर परमात्माके स्वरूपमें अनुरागरूप राग न रहेगा। मान लो ज्ञान भी है और परमात्मामें राग भी है पर वैराग्य नहीं है तो वैराग्य हुए बिना स्वरूपमें अनुराग नहीं जग सकता। मान लो ज्ञान भी है, वैराग्य भी है और राग बिल्कुल नहीं है तो वह तो ध्यानस्थ बन जायेगा। निर्विकल्प आत्मस्वरूपके अनुभवमें ही बसेगा, उसके भक्ति कहां बनेगी? प्रभुकी भक्ति तो बनती है इन तीन तत्त्वोंसे। ज्ञान हो, वैराग्य हो और साथ ही राग भी हो। भगवानकी भक्तिके समय जो पुण्यका बंध होता है वह पुण्यबंध संसारका कारण है या मोक्षका कारण है? एक यह समस्या सामने रखी गई है? उसे लाभकी दृष्टिसे मोक्षका उपाय तो कह सकेंगे, पर संसारका उपाय नहीं कह सकते। ज्ञान वैराग्य और अनुरागकी भावनासे जो पुण्यका बध होगा वह तो मोक्षमार्गमें सहायक होगा, उसके योगमें संसारका बन्धन कटेगा।

मुक्तिका साधन वीतरागभाव—मुक्ति तो प्राप्त होगी रत्नत्रय की उपासनासे, परमात्मस्वरूपकी उपासनासे। तो वहां दो भाग कर लीजिए। जितनी दृष्टि आत्मस्वरूपकी बनी हुई है, जितना आश्रय आत्मस्वरूपका लिया जा रहा है उतना तो है मोक्षका उपाय और जितना आश्रय राग भावका लिया जा रहा है, राग चल रहा है उतना है बन्धनका उपाय। तो विवेक करना चाहिए गृहस्थके एक ही समय एक ही परिणाममें जो आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा चारों चलते हैं अर्थात् गृहस्थ ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, अपने ज्ञानकी प्रतीति रखता है उसके संवर भी तो चल रहा है, पर क्या कोई ऐसा समय है जिस समय संवर ही संवर चल रहा हो, कर्मबंध बिल्कुल न होता हो, ऐसा कोई अवसर नहीं है। ज्ञानी गृहस्थके प्रति समय आश्रव, बंध, संवर और निर्जरा ये चारों चलते रहते हैं और परिणाम होता है एक समयमें एक पर्याय परिणमन, जो कुछ भी परिणति हो रही है वह एक समयमें एक हो रही है। अब उस एक परिणति का निमित्त पाकर आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा ये चार बातें हो रही हैं, तो उसमें यह विवेक करना होगा कि जो एक परिणति बनती है, वह केवल राग रागसे अथवा वैराग्य वैराग्यसे नहीं बनती, किन्तु कुछ

राग है, कुछ वैराग्य है, उस ज्ञानी गृहस्थके इस कारण संवर भी चल रहा है और बंध भी। संवर तो उसशक्तिके कारण चलता है जिस शक्तिसे वैराग्य है, ज्ञानका आलम्बन है और बंध उसशक्तिसे चल रहा है जिस रागका आलम्बन है। तो हम गृहस्थजन धर्मपालनके प्रसंगमें देवभक्तिमें लगते हैं तो उस देवभक्तिके समय जो अपने आपमें गल्ती समझ रहे हैं और भगवान्की वीतरागता और सर्वज्ञता समझ रहे हैं और उस वीतरागसर्वज्ञका अपने आपकी शक्तिमें जोड़ किया जा रहा है तो ऐसे इस संगममें अर्थात् भगवानके गुणोंका स्मरण, भगवानके गुणोंकी तरह आत्माके गुणोंका स्मरण और अपने आपकी वर्तमान हीन दशा—ये तीन बातें उस ज्ञानीके भक्तिके समयमें जब उपयोगमें आती हैं तो उस समय इसके ऐसी विशुद्ध भक्ति होती है कि जिसमें हर्ष और विषाद दोनों बढ़ जाते है, उस समय इस ज्ञानी गृहस्थके पुण्यका बंध भी होता है और संवर निर्जरा भी चलती है। संवर निर्जराका कारण तो है ज्ञान और वैराग्य और बन्धनका कारण है रागभाव। तो गृहस्थीका ऐसा एक मिश्रमार्ग है जहां राग भी चलता है और वैराग्य भी चलता है। उसमें यह निर्णय रखना चाहिए कि जितने अंशमें रागका भाव है उतने अंशमें तो संवर हो रहा है और जितने अंशमें राग चल रहा है उतने अंशमें बन्धन हो रहा है। गृहस्थ अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति रखता है और जो विशुद्ध ज्ञानी हो गये, ऐसे परमात्मस्वरूपकी भक्ति करता है और यों यह गृहस्थ अपने कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मोक्ष मार्गमें बढ़ता चला जाता है।

रत्नत्रयकी समग्र व असमग्र साधनाके अधिकारी—मुक्तिका मार्ग रत्नत्रय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यहां संसारसे छूटनेका उपाय है। सो इस रत्नत्रयकी साधना पूर्णरूपसे तो साधु करते हैं और आंशिक रूपसे गृहस्थ भी करते हैं। तो गृहस्थ जो कुछ सम्यक्चारित्रका धारण करते हैं अपूर्ण रत्नत्रयका पालन करते हैं ऐसे उस अपूर्ण रत्नत्रयके पालनमें या व्यवहार रत्नत्रयके पालनमें जैसे कि कुछ लोग एकान्तसे ऐसा मानते हैं कि वहाँ कर्मोंका बंध होता है और निश्चयरत्नत्रयके पालनमें अथवा पूर्ण रत्नत्रयके पालनमे मोक्षका मार्ग बनता है। इस सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण है कि अपूर्ण रत्नत्रयके पालनके समयमें भी जितने अंशमें सम्यक्त्व ज्ञान चारित्रकी वर्तना है उतने अंशमें तो इस जीवके बन्धन नहीं होता और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्धन होता है, इसही बातको स्पष्ट कर रहे हैं।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

सम्यक्त्वमें बन्धनकी अहेतुता व रागांशमें बन्धनहेतुता—जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है या जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है उस अंशमें बन्धन नहीं है और जिस अंशसे इसके राग है उस अंशसे बन्धन होता है। यहाँ एक प्रश्न और किया जा रहा है कि क्या सम्यग्दर्शनके भी अंश होते हैं ? जैसे रागके अंश होते हैं इसमें कम राग है इसमें ज्यादा राग है तो क्या ऐसे ही अंश सम्यग्दर्शनमें भी होते हैं ? तो सम्यक्त्वमें अंश तो नहीं होते। जब सम्यक्त्व होता है तो पूर्ण होता है, जब सम्यक्त्व नहीं है तो नहीं है। लेकिन यहां यह बात कही जा रही है कि जो भी रत्नत्रयकी प्रवृत्ति चल रही है गृहस्थकी उस प्रवृत्तिके समय सम्यक्त्वकी धारा भी चल रही है और रागभाव भी चल रहा है, क्योंकि गृहस्थकी पदवी एक छोटी पदवी है। तो उस परिस्थितिके समय यह विवेक बताया है कि जो सम्यक्त्वकी धारा चल रही है उसके कारण बन्ध नहीं है। जो रागकी बात चल रही है उसके कारण बंध है। इसीसे सम्बन्धित और भी बातें सुलझा लीजिये। जितेन्द्र भगवानकी भक्ति करते हैं उस भक्तिको कोई लोग केवल कर्मबंधका कारण कहते हैं और कर्मबंधका कारण है इसलिए त्याज्य है, हेय है, ऐसा भी उपदेश करते हैं, लेकिन भक्तिमें यह मर्म समझना चाहिए कि जिनेन्द्रदेवकी भक्तिका परिणाम केवल राग करनेसे नहीं बना किन्तु उस भक्तिमें ज्ञान भी है, वैराग्य भी है और साथ ही अनुराग भी है तो इन तीनोंके मेलसे भक्तिका परिणाम बना। तो वह भक्तिका परिणाम केवल बंधका कारण कैसे हुआ ? भक्तकी परिणति जब ज्ञानसाध्य वैराग्यसाध्य और अनुरागसाध्य है तो जितने अंशमें ज्ञान और

वैराग्यकी धारा चल रही है उतने अंशमें मोक्ष का मार्ग है और जितने अंशमें रागभाव चल रहा है उतने अंशमें बंधन है। सो यह रागभाव सांसारिक बन्धन जैसा नहीं, तो गृहस्थकी एक परिणतिके समय आस्रव भी हो रहा है, बंध भी हो रहा है, संवर भी हो रहा और निर्जरा भी हो रही। इसमें जितने अंशमें वैराग्यकी बात है उतनेमें संवर और निर्जरा है और जितने अंशमें रागादिक विकार हैं उतनेमें बन्धन है, आस्रव बंध चल रहा है।

सम्यग्ज्ञान होने पर भी सरागता व वीतरागताके भेदसे प्रभावमें भेदकी झलक—उक्त बात इसलिए बताई गई है कि यह न समझें कि गृहस्थाचार केवल बन्धनका कारण है, श्रावकका आचार केवल बन्धनका कारण है अतएव उसे छोड़ें ऐसी बात चित्तमें न लायें। इन स्पष्ट कारणोंसे यह बात बतायी गई है। हां संयम धारण करे, महाव्रत धारण करे वह ठीक है। अब इतनी शक्ति किसीमें न हो तो श्रावकधर्ममें रहकर अपनी धर्मसाधना करें। श्रावकधर्म भी बहुत पवित्र जीवन है, कोई नियम पूर्वक धर्मानुराग सहित करे तो। श्रावक भी ज्ञानी होता है, उसके चित्तमें भेदविज्ञान बना होता है। समस्त जीव न्यारे हैं। ये धन वैभव आदिक आदि पौद्गलिक ठाठ न्यारे हैं। इन सब चेतन अचेतन वैभवोंसे मैं निराला केवलज्ञानज्योति स्वरूप हूँ—ऐसा उसके भेद विज्ञान बसा है, ज्ञानी है, किंतु कर्मोंका ऐसा ही विलक्षण उदय है कि वह सर्वपरिग्रहोंको त्यागकर अति विरक्त नहीं बन सकता। ऐसी स्थितिमें उसने जो घर बसाया है वह एक सन्तोषके लिए बसाया है कि इतने मात्रसे मैं सन्तुष्ट रहूंगा और बाकी समय हमारे धर्मध्यानमें व्यतीत होगा। ऐसा एक अपना मार्ग निकालनेके लिए श्रावकाचारको अंगीकार किया है। उसमें यदि अपनी सही चर्यामें रहा जाय, देवपूजा आदिक जो ६ कर्तव्य बताये गए हैं—भगवत् जितेन्द्रदेवकी पूजा करना, गुरुजनोंकी सेवा करना, स्वाध्याय करना, संयम से रहना, इच्छावों पर विजय करना और योग्य पात्रोंमें योग्य धर्मस्थानोंमें धर्मका साधन करना आदि ये ६ कर्तव्य निभाते रहें और अपने लक्ष्यको न भूलें तो श्रावकाचार भी एक बहुत बड़ी पवित्रता लाता है।

येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

ज्ञानांशमें बन्धनकी अहेतुता व रागांशमें बन्धहेतुता इस श्रावकाचारके पालनके समय अपूर्ण रत्नत्रयके धारणके समय जितने अंशमें ज्ञानधारा चल रही है उतने अंशमें बंध नहीं है और जिस अंशसे राग चल रहा है उस अंशसे इसका बंधन है। ज्ञानी पुरुषको इसका पूर्ण निर्णय है कि रागभाव बंधका ही कारण होता है और रागभाव ही विडम्बना है, संसारके उलझनोंमें फंसाने वाली परिणति रागपरिणति है और रागपरिणति भी एक अपूर्णतामें अशक्तिमें होने वाला परिणाम है। तब प्रत्येक पदार्थ न्यारे न्यारे केवल अपने-अपने स्वरूपको रखने वाले हैं। मेरे आत्माका भी यह एकत्व स्वरूप है, किसी भी परसे इसका सम्बन्ध नहीं है, न कोई हुआ है अब तक मेरा न कोई है और न हो सकेगा, लेकिन जैसे स्वप्न देखनेके समय झूठ भी बात हो, सामने कुछ चीज भी नहीं है लेकिन एक मन की कल्पनासे सब कुछ अपना मान लिया जाता है, इसी प्रकार मोहकी नींदमें सामने सामने नहीं है कुछ अपना, न कुछ है, न होगा, न हो सकता है, कुछ सम्बन्ध भी नहीं है लेकिन कल्पनासे अपना मान लिया जाता है यह व्यर्थकी मान्यता है, केवल एक निज गुण पर्याय वाला यह आत्मद्रव्य है, इसमें अन्य कुछ नहीं है, यह केवल अपने स्वरूपमें है, ऐसा ज्ञान जिनके है उनके मोह नहीं बस सकता है, ममताका वहाँ प्रवेश नहीं है फिर भी जो रागभाव चल रहा है, जिसके कारण वह गृहस्थाचारमें रह रहा है उस रागभावकी बात कह रहे हैं कि रत्नत्रयके पालनके समय, भगवद्भक्ति के समय, धर्मसाधनाके समय जो रागभाव रहता है सो वहां जितने अंशमें राग है उतने अंशमें तो बन्धन है पर जितने अंशमें ज्ञानका समन्वय है उतने अंश बन्धन नहीं है।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१४।।

चारित्रांशमें बन्धनकी अहेतुता व रागांशमें बन्धनहेतुता—श्रावक अपनी शक्तिके माफिक चारित्रको भी धारण करते हैं। श्रावकके आचरणके पालनमें प्रवृत्तिमें रागभाव भी रहता है। श्रावकोंके शुभराग शुभोपयोग की अधिकता चला करती है, लेकिन उस राग परिणतिके समय भी दया, दान, भक्ति, परोपकार, ध्यान, जाप, चिंतन आदिक जो कुछ भी श्रावक करते हैं उस परिणतिके समय भी वह विवेक रखना कि जितने अंशमें चारित्र चल रहा है कषायोंका अभाव होने से जो आत्मस्वरूपमें प्रतीतिरूप जो कुछ भी स्वरूपका आचरण हो रहा है, चारित्रकी दृष्टि से बंध नहीं है और जितने अंशमें राग चल रहा है उतने अंशमें बंधन है। मुनियोंको दान देना, शुद्ध भोजन बनाना, भगवत पूजन करना, मंदिर निर्माण करना अनेक कार्य श्रावकोंके हुआ करते हैं, और वे सब कार्य केवल वैराग्यसे नहीं बनते और केवल रागसे नहीं बनते। मात्र रागसे तो विषयपोषणके कार्य बनते है और मात्र वैराग्यसे निर्विकल्प ध्यानके कार्य बनते हैं, पर ये बीचके जो कार्य हैं धर्मकार्य वहां कुछ वैराग्य है, उपेक्षा है और कुछ अनुराग है तो वैराग्य और अन्तरङ्ग इन दोनोंके रहनेसे ये श्रावकोंके कर्तव्य बना करते हैं। उन कर्तव्योंमें जितने अंमें उसके कषायों का अभाव है, चारित्र है, उतने अंशमें तो बन्धन नहीं और जितने अंशमें से उसके राग है उतने अंशमें उसके बन्धन है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च ।।२१५।।

रत्नत्रयमें योगरूपताका व कषायरूपताका अभाव होनेसे बन्धनकी अहेतुता—कर्मोंका बन्धन होता है—ये कर्म दिखते तो नहीं हैं, न कोई किसी दूसरे को बता सकता है कि देखो ये कर्म पड़े हुए हैं, लेकिन यह संसार को जो विचित्रता नजर आ रही है—कोई श्रीमान् है, कोई गरीब है, कोई आराममें है, कोई दुःखी है, ऐसी जो विचित्रताएं हैं ये विचित्रताएं भी अनुमान कराती हैं कि इस आत्माके साथ कोई ऐसा बाह्य कारण लगा हुआ है जिसके निमित्तमे ये विचित्रताएं हैं, उस बाह्य कारणका नाम कर्म है। जीव तो केवल अकेला ही होता, इसके साथ कर्म नहीं लगे होते, उपाधि नहीं होती तो यह आत्मा स्वयं संवररूप है, अपने ही भावसे अपने आपमें ही आनन्दका अनुभवन करने वाला होता है, लेकिन जो विषम परिस्थितियां बनीं, आकुलताएं होतीं, क्षोभ बना करते, ये सब कर्मके बन्धनमें बनते हैं, तो उन कर्मोंका बंध ४ प्रकारसे होता है—प्रकृतिबंध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। उन कर्मोंमें ऐसी प्रकृति पड़ जाय कि यह कर्म अमुक प्रकारका फल देगा, ऐसी प्रकृति पड़ जानेका नाम प्रकृतिबन्धन है। कर्मोंके प्रदेशका आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाह बंध हो जाना प्रदेशबन्ध है। उन कर्मोंमें स्थिति पड़ जाना कि ये कर्म इतने दिन तक जीवके साथ रहेंगे उसका नाम स्थिति बंध है और उन कर्मों में फलदान शक्ति आ जाना यह अमुक फल देगा इसका नाम है अनुभाग बन्ध। उन चारोंमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध होता है योगसे। और कषायभावसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है। जिस जीवमें जिस प्रकारकी कषाय है उसके अनुसार स्थिति बनती है और फलदान शक्ति पड़ती है लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र न तो योगरूप है और न कषायरूप है और रत्नत्रय बंधका कारण कैसे हो सकता है, वह तो मोक्षका ही उपाय है।

जीव और कर्मके विवेचनकी मोक्षमार्गमें गतिके लिए आवश्यकता—जैन सिद्धांतोंमें जीव और कर्म, इन दोनोंका विवेचन है और जीव और कर्म सम्बन्धी मर्मको जानना एक मोक्षमार्गमें अति आवश्यक है, जीवअपने गुणपर्याय वाला है। जीवमें गुण हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक और उन ही गुणों का परिणमन प्रति समय चलता रहता है। जब अशुद्ध दशा होती है तो अशुद्ध परिणमन चलता है। और जब इसकी पवित्रता चलती है तब पवित्र परिणमन चलता है। अब जीव के साथ जो कर्म लगते हैं

उन कर्मोंका भी बहुत बड़ा विस्तार है। यह कर्म सामान्तया एक ही तरहका है, क्योंकि कर्मका काम है बन्धन, संसारमें रोके रखना, जीवको कष्टका कारण बनना, इसलिये कर्म सब एक समान हैं पर इनमें जो प्रकृति पड़ी हुई है उसके भेदसे ये कर्म ८ तरहके होते हैं। ज्ञानावरण—जो कर्म ज्ञानको उत्पन्न न होने दें, विकसित न होवे दें, उसका नाम है ज्ञानावरण। ये ज्ञानावरण कर्म बनते कैसे हैं ? किसी ज्ञानीसे ईर्ष्या करे, किसी ज्ञानीका ज्ञान न सुहाये, उसकी प्रशंसा न सुहाये, ज्ञानीमें कोई दोष लगाये, अपने गुरुका नाम छिपाये, दूसरेके ज्ञानमें बाधा डाले, ऐसे कामोंसे ज्ञानावरण कर्म बनता है अर्थात् हमें ज्ञान न मिल पाएगा ऐसा उसका निर्णय बन जाता है। दूसरा कर्म है दर्शनावरण। जिस कर्मके उदय से आत्मामें दर्शन गुण प्रकट न हो सके उसे दर्शनावरण कहते हैं। दर्शनका काम है आत्मा का स्पर्श करा देना, आत्माका सामान्य प्रतिभास करा देना, उस दर्शनको जो न होने दे उसे दर्शनावरण कहते हैं। यह दर्शनावरण कर्म भी दूसरेके दर्शनमें बाधा डालने आदिक कार्योंसे होता है। तीसरा कर्म है वेदनीय कर्म। इसके दो भेद हैं सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीयसे सुख साधन मिलता है और असातावेदनीय के उदय से यह जीव दुःख अनुभव करता है। जीवमें सातावेदनीयका बंध कैसे होता है ? प्राणियोंमें दया करना व्रतियोंको दान करना, संयमासंयम धारण करना, क्षमापरिणाम रखना, कष्टसहिष्णु बनना ऐसे शुद्ध भावसे सातावेदनीय कर्म बनते हैं, और स्वयं दुःखी होना, दूसरे को दुःखी करना, स्वयं रंजमें रहना, दूसरेको रंजमें डालना, रोना आदिक अशुभ संक्लेश दुःखके परिणामोंसे असातावेदनीयका बंध होता है।

देखिए हम आपके पास सिवाय भाव करनेके और कुछ नहीं रखा है। प्रत्येक परिस्थितिमें हम अपने भावही बना पाते हैं, भावोंके सिवाय अन्यमें न कुछ करते हैं, न भोगते हैं। अज्ञानी जीव परको कर्ता मानते हैं, अपनेको परका भोक्ता मानते हैं, वह उनकी एक मान्यता भर है, वहां पर भी वह परकी दृष्टि रखकर किसी अपने भावको ही करता है और अपने भावोंको ही भोगता है। जीव भावोंके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकता है और न भोग सकता है, तो जब केवल हमारा भावोंसे ही सम्बन्ध है, हर जगह केवल हम भाव ही कर पाते हैं तो अन्य पदार्थोंके सम्बन्धमें ममता करना, चिन्तन करना, विकल्प बनाना, ये सब व्यर्थ हैं। कुछ अपने भावोंको सुधारनेकी बात किया करें। मेरा सुधार है सम्यग्ज्ञानसे। हमारा उपयोग पदार्थोंके यथार्थ विज्ञानमें रहे तो हमारा भाव उत्तम रहेगा। जहाँ हम पदार्थोंकी यथार्थता से चिगकर बाह्य दृष्टिमें लग जाते हैं वहां हमारे भाव खोटे होने लगते हैं।

शास्त्राभ्यास और जिनपदभक्तिकी भावना—भैया ! हितार्थ प्रयत्न ऐसा करें जैसा कि पूजाके अन्त में बताया। है पूजक चाहता है– हे प्रभो ! मेरे जीवनमें ये ७ बातें बनें, और मैं कुछ नहीं चाहता। भगवानके गुणोंकी उपासना घण्टा आध घण्टा कर चुकनेके बाद पूजा करने वाला अन्तमें इन ७ चीजोंको चाहता है। यह बहुत मर्मकी बात है अपने जीवनको सुधारने वाली और उन्नति करने वाली है। ये ७ बातें क्या हैं ? हे प्रभो ! एक तो मेरे शास्त्राभ्यास बना रहे, घण्टा दो घण्टा एक समय, दो समय, तीन समय शास्त्र का स्वाध्याय करते रहें, उसमें मेरेको प्रमाद न आए और उस शास्त्रके स्वाध्यायमें ऐसी धीरतासे स्वाध्याय करें, जो कुछ पढ़ें उसे अपने आप पर घटित करते चले जायें। यदि किसी दूसरे जीवकी कथा आयी है तो उसे भी मैं अपने पर घटित कर सकता हूं और कोई उपदेश आया है तो उसे भी मैं अपने पर घटा सकता हूँ। शास्त्रस्वाध्याय करें पर उसे अपने आप पर घटाकर करें। जहां पापोंके फलका, पापोंके स्वरूप का वर्णन हो तो अपने आपमें निरीक्षण करें कि मेरेमें ये पाप कितने हैं, कैसे हैं और इनका यह फल बताया तो हमने भी यदि वैसे पाप किये तो वैसा ही फल हमें भी भोगना पड़ेगा। जहां जीवों की अवगाहनाकी चर्चा हो, लोकमें ऐसी विशाल अवगाहनाके जीव हैं वहां अपने आपपर ऐसी दृष्टि दें कि एक आत्मतत्त्वके ज्ञानके बिना, एक रत्नत्रयकी साधनाके बिना यह जीव ऐसी ऐसी अवगाहनाके देह पाता है, मैंने भी यदि आत्मज्ञानमें अपना उपयोग न रखा तो मैं भी यों ही भ्रमण करता रहूंगा। शास्त्रस्वाध्याय करें तो सारी बातोंको अपने आपपर घटाते हुए करें। दूसरी बात चाही है पूजन ने कि हे भगवन् ! आपके चरणोंका स्मरण बना रहे, आपके

गुणोंका स्मरण बना रहे। समवशरणमें विराजमान सर्वज्ञदेवकी मुद्रा मेरे चित्तमें बनी रहे, मैं कहीं भी होऊं, दुकानमें, घरमें, पर मेरे उपयोगमें वह जिनमुद्रा न टले, जो जिस धुन वाला पुरुष होता है उसको वही चीज समाई रहती है। कोई कामी पुरुष है, स्त्रीकी धुनि वाला है तो उसके उपयोगमें स्त्री ही समाई रहती है, कोई परिग्रही पुरुष है तो उसके चित्तमें परिग्रह ही समाया रहता है। नाथ ! मेरे उपयोगमें एक वह जिनकथा ही समाई रहे, क्योंकि संसारमें मेरेको कहीं कोई शरण नहीं है। किससे राग करूं, कौन मेरा प्रभु है, कहीं मेरा राग न हो। मेरा केवल अनुराग हो तो जिनेन्द्रभक्तिमें। वीतराग प्रभुकी वह वीतरागता वह सर्वज्ञता हमारे उपयोगमें बसो। यों जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका स्मरण बना रहे, यह दूसरी बात वह पूजक चाहता है।

सतसंगति, सद्‌वृत, गुणकथा, दोषवादमौन व प्रियहितवचनकी भावना—पूजक तीसरी बात चाहता है कि हे नाथ ! मेरा आर्यपुरुषोंके साथ समागम रहे। श्रेष्ठ पुरुष संसार, शरीर भोगोंसे विरक्त एक आत्माके स्वरूपके अवलोकनकी धुनि वाले ज्ञानीपुरुषोंकी संगति रहे, उस संगतिमें रहकर मेरा भी उपयोग सही रहेगा। विषय-कषायोंमें मेरा उपयोग न फंसेगा, मैं सदा श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगतिमें रहूं यही चाहता हूं। चौथी बात वह पूजक चाहता है कि मैं सज्जनोंके गुणोंकी कथा करता रहूं, जो सच्चरित्र पुरुष हैं, ज्ञानी पुरुष हैं उनके गुणोंको मैं बोलता रहूं, उनके गुणोंकी कथा करनेसे हमारेमें एक तो अहंकार दूर होगा, अपने आपके बड़प्पनकी बुद्धि न होगी। जो लौकिक इज्जत पोजीशनसे अपने को बड़ा मानकर अहंकार भाव किया करते है वे पुरुष यदि सच्चरित्र पुरुषोंके गुणोंकी कथा करते हैं तो उससे उपयोग विशुद्ध होता है। तो हे नाथ ! हम सत्पुरुषोंके गुणोंका गान करते रहें, ऐसी मेरी बुद्धि रहे। ५ वीं बात चाहता है पूजक कि मैं दोषवादमें मौन रखूं। किसी के दोषों को यदि हम यहां वहां बखानते रहते हैं तो उससे हमने अपने आपको तो हीन बना लिया, अगर उन दोषोमें हमने अपना उपयोग रखा तो समझो व्यर्थही विवादोमें हमने अपना समय गंवा दिया। तो नाथ ! मेरेमें ऐसी सद्‌बुद्धि जगे कि मैं दूसरोंके दोषोंको न बोलूं और छठी बात चाहता है वह पूजक कि मैं सब जीवोंसे प्रिय हित वचनालाप करूं। सभी जीव यात्री हैं। न जाने किस किस गतिसे आकर आज यहां इकट्ठे हुए हैं। कुछ समय रहकर वे यहांसे चल देंगे। इन जीवोंमें न कोई मेरा मित्र है और न कोई मेरा शत्रु है अर्थात् न कोई मेरा सुधार कर सकने वाला है और न कोई बिगाड़ कर सकने वाला है। सो इस समागममें हम किसी से वचनव्यवहार करें तो प्रिय और हित बोलें। अप्रिय और अहितकर वचन बोलनेसे न मुझे कुछ लाभ है, न दूसरे को लाभ है बल्कि मुझे विपत्ति आ सकती है। तो हे नाथ ! मैं सबसे प्रिय हित वचन बोलूं ऐसी मुझमें बुद्धि जगे और ऐसा ही मेरा प्रयत्न हो।

आत्मतत्त्वभावना व उद्देश्यपूरक जीवकर्मविवेचनका अवशेष निर्देश—७ वीं बात चाहता है यह ज्ञानी पूजक कि मेरे आत्मतत्त्वकी भावना जगे, मेरा आत्मस्वरूप केवल ज्ञानज्योतिमात्र सबसे अपरिचित किन्तु अपने आपकी दृष्टिमें आ जाय तो अपने लिए परिचित, ऐसा जो निज आत्म ब्रह्मस्वरूप है उसमें मेरी भावना रहे उसकी दृष्टि बनी रहे। जैसे कोई कार्यवश यहां वहां घूम करके भी आखिर आता है अपने घरमें ही, ऐसे ही यह मेरा उपयोग कार्यवश यहां वहां जाता है तो ठीक है चला गया, मगर यहां वहां जानेके बाद मेरा यह उपयोग मेरे इस आत्मतत्त्वमें ही आये, क्योंकि शरण मेरा यह आत्मस्वरूपही है। उसमें मेरी भावना रहे कि हे नाथ ! जब तक मेरा मोक्ष न हो तब तक ये बातें मुझमें रहें। ये सब हमारे शुभ और विशुद्ध परिणाम हैं। ऐसे परिणामोसे यदि बंध हो रहा हो तो शुभ सातावेदनीयका बंध होता है। मोहनीय कर्म श्रद्धानसे विचलित करनेका कारण है, आयुकर्म शरीरको रोके रहता है, नामकर्मके उदयसे नाना रचनायें होती हैं, गोत्रके उदयसे ऊंच नीच कुलमें उत्पन्न होता है, अन्तरायके उदयमें दान आदिकमें बाधा होती है—ऐसा कर्मोंका बन्धन है। रत्नत्रयसे यहां बन्धन नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का कारण है। तो जिस प्रकार जितनी शक्ति हो उसके माफिक सम्यग्दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक् चारित्रके पालनमें हमें अपना उद्यम करना चाहिए।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोध: ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्ध: ।।२१६।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसे रत्नत्रय कहते हैं। अपने आत्माके सहजस्वरूपका निश्चय होना सम्यग्दर्शन है और श्रद्धानमें आया हुआ सहज ज्ञानस्वभावी आत्माका उपयोग होना सम्यग्ज्ञान है और इस ही सहजस्वरूपमें उपयोगका स्थिर होना सो सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय यथाशक्ति श्रावकोंके भी होता है और प्रमत्त अवस्थाके मुनियोके भी होता है। ऊपर तो होता ही है, तो जो व्यवहाररत्नत्रयमें रहने वाले साधु हैं अथवा श्रावकाचारी हैं उनके जो बंध होता है। वह बंध रत्नत्रयके कारण नहीं है किन्तु रत्नत्रयके होते हुए भी जो रागभाव चल रहा है उस रागके कारण बंध है। ऐसी बहुतसी प्रवृत्तियां हैं जिनमें राग भी है और वैराग्य भी है। जैसे अरहद्भक्ति, भक्त पुरुष केवल रागके कारण अरहद्भक्ति न कर सकेगा, अथवा केवल वैराग्य ही हो तो भी अरहद्-भक्ति न बनेगी, मात्र वैराग्य ही हो तो निर्विकल्प ध्यान बनेगा और केवल राग ही हो तो भी साधना न बनेगी। जिस जीवके वैराग्य भी है और प्रभुगुणोंमें अनुराग भी है उसके भक्ति होती है। तो वहां यह विवेक करना होगा कि भक्तिरूप परिणामके होनेके समय कर्मोंकी निर्जरा भी है और कर्मोंका बन्ध भी है। जो कर्मबन्ध है वह तो अनुराग के कारण है और जो निर्जरा है वह वैराग्यके कारण है। तो रत्नत्रय चूंकि आत्मस्वभावसे हीं सम्बन्ध रखता है तो जो आत्मस्वभावसे सम्बन्ध रखें ऐसी वृत्तिसे बंध कैसे हो सकता है ? बंध होता है, परकी दृष्टिमें, परके आलम्बनमें, परके आश्रयमें। सो स्वके आश्रयमें बंध नहीं होता। यदि स्वके आश्रय भी बंध होने लगे तो बंध फिर आत्माका स्वभाव बन जायेगा। इससे इस प्रसंगमें यह प्रश्न हुआ था कि श्रावकोंके आचरणमें जो भक्ति, दया, दान, शुभोपयोग, परोपकार आदिक प्रवृत्तियां जगती हैं उनसे बंध होता है और वे संसारके मार्ग हैं, हेय हैं, ऐसा एक प्रश्न उठा था। विवेक सहित समाधान कर रहे हैं कि भाई जो रागभरी प्रवृत्तियां हैं वे तो बंधका कारण हैं, पर जो ज्ञानधारी चल रही है, जितने अंशमें वैराग्य है उस अंशमें तो बंध नहीं है। बंध एक बहुत बड़ी विडम्बना है। बंधन कोई जीव नहीं चाहता, पर ये मोही जीव खुशी खुशीसे शुभभाव अशुभभावके बन्धनमें बस रहे हैं, नानापरिग्रहोंके स्नेह के बन्धन लगाये हैं। अपने उपयोगमें बहुत परिग्रहोंका भार लादे हैं, कितनी हो वस्तुवोंका विकल्प बनाये हुए हैं ? रागका बन्धन इतना जबरदस्त है कि जिसमें चैन नहीं, आत्माकी सुधि नहीं, ऐसे उस बन्धनको वे पसंद कर रहे हैं, बन्धनको पसंद करना यह जबरदस्त बन्धनका कारण बनता है, इस ही को मिथ्यात्व कहते हैं। बन्धन अथवा राग यह मिथ्यात्व नहीं है किन्तु बन्धन सुहाना, राग सुहाना, उसे ही अपना सर्वस्व समझना यही है मिथ्यात्व। यों कह लीजिए कि रागमें राग होना मिथ्यात्व है। जैसे कोई रईस आदमी बीमार पड़ा है तो उसके आरामके साधन जुटाये जाते हैं, साफ कमरा, कोमल पलंग, दो एक नौकर और बढ़ा दिये जाते हैं, चापलूसी करने वाले मित्र वहाँ बैठे रहते हैं, उसका मन बहलाने के लिए अनुकूल बातें करते हैं, रिश्तेदार लोग भी क्षण-क्षणमें कुशलता पूछने के लिए आते रहते हैं, डाक्टर भी बहुत-बहुत आता है। कितना आराम दिखता है ? ऊपरसे ऐसा दिखता है कि यह बड़े सुखमें है, बड़े आराममें रह रहा है, लेकिन उस रोगीका अंत:करण यह कह रहा है कि कब मुझे इससे छुट्टी मिले और मैं चार मील दौड़कर अपना दिल बहलाऊं। वह इस आरामको नहीं चाहता, वह तो भागना चाहता है और भी देखिये कि वह रोगी पुरुष दवासे भी राग कर रहा है, अगर समय पर दवा न मिले तो वह लड़ता है, समय पर दवा क्यों नहीं आयी ? दवासे उसे कितना राग बना, लेकिन ऐसी औषधि मुझे जन्मभर मिलती रहे ऐसा राग नहीं है, रागसे राग नहीं है, औषधि पीता है औषधि छुटानेके लिए। मेरा यह औषधि पीना छूट जाये इसके लिए औषधि पीता है। तो जैसे रोगी पुरुष उस आराम और दवाको चित्त से नहीं चाहता फिर भी राग तो करता है तो रोगी को आरामसे राग है, औषधिसे राग है पर आरामके रागसे राग नहीं है, औषधिके रागसे राग नहीं, अर्थात् इस तरहका आराम मुझे जिन्दगी भर मिले, ऐसी औषधि मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे इस प्रकार उसके परिणाम नहीं

है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मविपाकवश सम्पदाके बीच आता है, उससे राग भी करता है, उस प्रसंगमें द्वेषभी करता है, पर मैं ऐसी सम्पदाके बीच सदा काल ऐसा ही बना रहूं, ऐसी ही मौज बनी रहे, ऐसी भावना उस ज्ञानी की नहीं बनती है। ज्ञानीकी भावनामें तो यह बात समाई हुई है कि मेरा जो सहज ज्ञानस्वरूप एक चैतन्य प्रतिभासमात्र है, जिसमें विकार नहीं, जिसके स्वभावमें कोई तरंग नहीं, केवल एक चिद्‌विलास ही जिसका शुद्धरूपक है ऐसा ही मैं रहूं, यही हितरूप मेरे स्वरूपकी दशा है, उसे ही अपनाना है। तो जिस ज्ञानीके ऐसा पवित्र लक्ष्य बनता है उसके भी जो राग शेष है, उस रागपरिणतिमें बन्ध होता है। तो उस परिणति में बन्ध होता है उसका अर्थ यह न मानें कि सभी प्रमत्त जीवोंमें चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीवोंके बन्ध होता है, उनकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आस्रव है ऐसा निर्णय नहीं करना किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्धन है और जितने अंशमें सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र है इतने अंशमें बन्धन नहीं है। इस सम्बन्धमें और भी देखिये।

सम्यक्चारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये स नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

सम्यक्त्व व चारित्र होनेपर विशिष्ट रागभावसे तीर्थंकर व आहारकद्विकका बन्ध—तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक शरीर, आहारक अंगोपाङ्ग—इन तीन प्रकृतियोंका बंध सम्यग्दृष्टिके होता है। सम्यक्त्व और चारित्रके होने पर तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विककी सिद्धि बताई गई है। सम्यक्त्व न हो तो तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध नहीं होता, चारित्र न हो तो आहारक शरीरका बंध नहीं होता, आहारक शरीर आहारक अङ्गोपाङ्गका बंध ७वें गुणस्थानमें होता है और उदय आता है छठे गुणस्थानमें, पर जो नयके जानकार हैं वे सब इस समस्याका समाधान कर देते हैं। वहाँ जो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध हो वह सम्यक्त्वके कारण नहीं होता। दर्शनविशुद्धि भावनामें यह भाव भरा हुआ है कि ये जगत्‌के जीव एक जरासी अपनी दृष्टि न पाने से अपने आपकी ओर उन्मुख नहीं हुए, जिसके फलमें इस संसारमें जन्म मरणकी बड़ी विकट बाधामें इन्हें जुतना पड़ रहा है, ये उस दृष्टिको प्राप्त करें और अपना कल्याण पायें, ऐसी परम करुणा की भावना होती है उससे तीर्थंकरप्रकृतिका बंध है। निर्दोष सम्यग्दर्शन होने से तीर्थंकरप्रकृतिका बंध नहीं होता, सम्यक्त्व क्षायक सम्यक्त्व निर्दोष है तो उनके तीर्थंकरप्रकृति हो जाना चाहिए। तो तीर्थंकरप्रकृतिका बंध किसी शुभ रागके कारण होता है सम्यक्त्वके कारण नहीं, इस प्रकार चारित्रधारी संयमी साधुवोंके आहारक अंगोपांग होते हैं, वे भी किसी रागभावके कारण होते हैं। बन्धन रागभावके कारण है, सम्यक्त्व और चारित्रके कारण बन्धन नहीं है। यों समझो कि सम्यक्त्व दो प्रकारका है—एक सराग सम्यक्त्व और दूसरा वीतराग सम्यक्त्व। जो जीव रागसहित है और उन्हें सम्यक्त्व हो गया है तो उनका सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है और जो जीव रागसे परे है, वीतराग हैं उनके सम्यक्त्व को कहते हैं वीतराग सम्यक्त्व। सम्यक्त्वके दो भेद नहीं, सम्यक्त्व तो एक ही प्रकारका है। परमार्थ शुद्ध सहज स्वभावमें प्रतीति रखना, श्रद्धान रखना सो सम्यक्त्व है, यह एक ही ढंग से होता है, चाहे साधु हो अथवा श्रावक हो, पर सम्यक्त्व एक ही ढंगका होता है, पर समयके भेदसे ये दो भेद किए गये—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व, सो सराग सम्यक्त्वमें तीर्थङ्करप्रकृतिका बंध होता है अथवा आहारक प्रकृतिका भी बंध किसी रागके सम्बन्ध से होता है। वीतरागतासे बन्धन नहीं है।

रत्नत्रयमें बन्धनकी अहेतुताका समर्थन—अब सोचियेगा, साधारणरूपसे यह कहा जाता है कि तीर्थंकर प्रकृति बहुत उत्तम प्रकृति है, आहारक अङ्गोपाङ्ग बहुत ऊंची प्रकृति है, पर बन्धनकी दृष्टिसे बन्धनके कारणको लेकर देखो तो प्रकृति मात्र आत्मासे विपरीत स्वभाव रखती है, कर्म ही तो है, कर्म तो कर्मकी जातिमें ही काम करेगा और आत्मा आत्माके उदयका ही काम करेगा। लेकिन प्रशंसनीय यों है तीर्थङ्कर प्रकृति कि जिसने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया है वह नियमसे मोक्ष जायेगा और भव्य जीवोंके कल्याण का भी बहुत विशिष्ट कारण बनेगा, इसलिए उसकी महिमा गायी जाती है। महिमा तो रत्नत्रयकी है। कोई भी पुरुष तीर्थंकर हुए बिना अथवा मुनि

होकर भी जिनको उप भवमें किसी ने जाना भी न था, जिन्हें कोई सम्मान भी नहीं मिला, जिनकी कोई कीर्ति भी नहीं फैली, एकदम गुप्त रहे, ऐसे साधुजनोंने शुक्लध्यानके बलसे कर्मोंका क्षय किया और कर्मोंसे मुक्त हुए। फिर आनन्द आनन्दमें विराजमान है और ऐसे तीर्थंकर जिनका तीर्थंकरोंमें भी बड़ा विशिष्ट नाम लिया जाता है, जिनकी महिमा अब तक भी गायी जाती है वे आत्मा भी इस समय निर्वाणमें हैं और अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं, पर निर्वाण होने के बाद चाहे तीर्थंकरका आत्मा हो, चाहे एक साधारण मुनिका आत्मा हो वहां तो एकसी ही बात है। सभीके अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति है, वहां किसी भी प्रकारकी एक दूसरेमें कमी-बेशी नहीं है। तो बन्धन जितना भी है वह रत्नत्रयसे नहीं होता, किन्तु रागभावसे होता है, होता क्या है उस समय जब सम्यक्त्व और चारित्रके होने पर तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बन्ध होता है, उस बातको बतलाते हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरपुस्मिन्नुदासीनाम् ॥२१८॥

सम्यक्त्वचारित्र होनेपर योग व कषायसे ही तीर्थंकर व आहारकद्विकका बन्धन—सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए जो तीर्थंकर आहारक प्रकृतिका बध कराने वाली चीज तो योग व कषाय है, वह है तब बंध होता है, सम्यक्त्व है, चारित्र है, योग कषाय न हो तो तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बध नहीं हो सकता। तो इसके बंधका कारण तो योग कषाय है। योग कषाय बिना बध नहीं है, किन्तु उस समय सम्यक्त्व और चारित्र एक उदासीन है अर्थात् योगसे भी तीर्थंकरप्रकृतिका बंध नहीं होता। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जहां-जहां योग हो वहां तीर्थंकरप्रकृति बंधे ही। सम्यक्त्वके होते सन्ते अनुकूल योग हो तो तीर्थंकरप्रकृतिका बंध होता है। सम्यक्त्व और चारित्रके होते सन्ते योग कषाय हो तो आहारक शरीर आहारक प्रकृति बंध होता है, बेधक रत्नत्रय नहीं होता, किन्तु रागभाव वेधक होता है। जैसे बड़े बड़े मुनियोंके समीप जातिविरोधी जीव भी अपना वैरभाव छोड़ देते हैं और बड़े वात्सल्यसे परस्परमें क्रीड़ा करते हुए शान्तचित्त होकर बैठते हैं, उस समय वे मुनिराज उन जातिविरोधी जीवोंके बैरको नहीं छुड़ा रहे हैं, वे तो अपने ध्यानमें अपनी जगह मौजूद हैं पर वह उदासीन कारण है, उनकी मुद्रा निरखकर उनके समीपका शान्त वातावरण पाकर वे विरोधी जीव भी अपना बैरभाव छोड़ देते हैं। इतने पर भी व्यवहारसे हम उन मुनिराजोंसे विशिष्ट कारण मानते हैं और उनके विरोधके त्यागके कर्ता मानते हैं। न होते वे मुनि तो वे जाति विरोधी जीव वहाँ बैर नहीं छोड़ते, ऐसा सम्बन्ध देखकर कहते हैं, पर वहाँ मुनिराज तो एक उदासीन भावसे मौजूद हैं, विरोधी जीव अपने ही विचारसे उस वातावरणमें आकर अपना विरोध छोड़ देते हैं ऐसे ही समझिये कि सम्यक्त्व और चारित्र न होते तो तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बन्ध न होता, लेकिन सम्यक्त्व चारित्र तो उदासीनरूपसे है। उस प्रकारका विशिष्ट राग हुआ तो उनका बन्धन हो गया, इससे भी यह निर्णय निकालें कि रत्नत्रयसे बन्धन नहीं होता स्वभावदृष्टिमें बन्धन नहीं। अनुभव करके भी देख लो कितने भी क्लेश हों, कितने भी विकल्प होंवे तभी तक हैं जब तक हम अपने स्वरूपकी सुध नहीं करते और बाहर ही बाहर दृष्टि बनाये हुए हैं तो हमें विकल्प और कष्ट होते हैं। जब कभी हम बाहरके विकल्पोंको छोड़कर अपने सहजस्वरूपकी सुधि लेते हैं और उस सहजस्वरूपमें मग्न होते हैं तो समस्त कष्ट शान्त हो जाते हैं। क्षण तो वे धन्य हैं, पुरुषार्थ तो वह धन्य है जिस पुरुषार्थमें आत्मा अपने सहज स्वरूपमें रम जाय।

सहजस्वरूपके बोध बिना कष्टोंकी भरमारी—भैया! सहज स्वरूपमें रमे बिना कितना बड़ा कष्ट है? कोई पुरुष अपने पर बच्चोंका भार माने, धन कम हो उसका विकल्प करता है, धन ज्यादा हो उसका विकल्प करता है, अपनी पोजीशनकी संभाल करता है, लोकमें मेरी क्या प्रतिष्ठा रहेगी, मेरा क्या यश रहेगा? लोग मुझे क्या कहेंगे, कितनी तरहके विकल्पोंका भार लादे हुए हैं? और उन विकल्पोंके समय मेरी दृष्टि परकी ओर लगी है। ये मनुष्य जो कर्मोंके प्रेरे चतुर्गतिमें भटकते हुए एक मनुष्यलोकमें आये हैं, कोई किसी प्रकारका दुःखी है, कोई किसी

प्रकारका क्लेश मान रहा है, वे जीव मुझे कुछ अच्छा समझले इस प्रकारका जो विकल्प भाव है वह विकल्प ही सब अनर्थोंका कारण बन रहा है। लोग विशिष्ट परिग्रहवान् क्यों बनना चाहते ? मैं लखपति हो जाऊं, करोड़पति हो जाऊं, ऐसी उनकी भावना क्यों हो रही है ? क्या इसलिए कि उनको खाने पीनेकी या आराम करने की सुविधा नहीं है ? अरे ऐसी बात नहीं है। बात तो यहां यह है कि लोग मुझे विशिष्ट धनी कहने लगें, इस बातकी वाञ्छा अन्दरमें पड़ी हुई है जिसके कारण लोग धनी बननेकी होड़में हैं। एक थोड़ासा इस माया वासना पर विजय हो तो इस मनुष्यका जीवन सुख शान्तिमें व्यतीत हो सकता है। मनुष्य हुए तो किसलिए हुए ? निर्णय करिये और प्रश्नोत्तर उठायें अपने में। मैं लोगोंमें अच्छा कहलवानेके लिए हूं, ये लोग क्या हैं ? स्वयं मर मिटने वाले हैं जिनमें अच्छा कहलवाना चाहते हैं। न वे पर्यायें रहेंगी और न यह मेरी पर्याय रहेगी। यह भी विकल्प बनानेसे इस आत्माका क्या लाभ ? कर्म बंधते हैं, जन्ममरणकी परम्परा बढ़ती है।

वर्तमान जीवनके प्रयोजनका निर्णय—भैया ! अब जरा मैं किसलिए जीवित हूं, इसका समाधान लेते जाइए। क्या भोजन करने के लिए जीवित हुए ? अरे हाथी, घोड़ा, भैंसा बनकर तो इससे पचासों गुणा भोजन किया, बड़े महाराजा भी बनकर मूल्यवान द्रव्योंकी अपेक्षा अबसे पचासों गुना भोजन किया पर तृप्ति नहीं हुई। भोजन क्षुधा तृषा ये समस्यायें रोग हैं, भूख मिटा लिया तो कौनसा बड़ा काम कर लिया ? क्या फिर भूख नहीं लगती ? इस जीवन भरकी भूख मिटा ली तो इस जीवनके गुजरनेके बाद जो शरीर मिलेगा क्या वहाँ भूख प्यासकी वेदना न होगी ? अरे इसके लिए यह जीवन नहीं पाया, भावना तो यह होनी चाहिए कि मेरे क्षुधा रोगका ही विनाश हो। यह भोजनकी विडम्बना ही न रहे। भोजनके लिए यह जीवन नहीं है। तो क्या पञ्चेन्द्रियके विषयोंके लिए यह जीवन है ? अरे पशुपक्षियोंकी भांति ही यह जीवन व्यतीत किया तो इस मनुष्यभव को पाकर लाभ क्या पाया ? जीवन तो पाया है अपने आत्माके उस सही स्वरूपको समझनेके लिए ? मैं क्या हूं ? इसका सही उत्तर प्रतीति रखने के लिए जीवन है। जो काम अब तक नहीं किया जा सका और जो बड़ी शान्तिका कारणभूत है ऐसा काम करने के लिए यह जिन्दगी है। मोह ममताके लिए यह जिन्दगी नहीं है। जिनसे मोह ममता बनाया है उनसे लाभ क्या होगा ? जब वियोग होगा, तो कष्ट होगा। जीवनभर जितना मौज माना है उससे कई गुणा अधिक कष्ट होगा, सब कसर निकल जाएगी। मोह ममताके लिए यह जीवन नहीं है। यद्यपि गृहस्थीमें रहते हुए राग बिना कार्य नहीं चलता, एक दूसरेकी पूछ रखनी पड़ती है, प्रिय वचनोंका व्यवहार करना पड़ता है। कुछ थोड़ी बहुत जिम्मेदारी सी मान ली जाती है, लेकिन ज्ञान सही बनाये रहें तो उसमें कौनसी विडम्बना आती है ? सर्व जीव मुझसे भिन्न हैं, चाहे मेरे ही घरमें उत्पन्न हुए जीव हों, चाहे अन्य जीव हों, चाहे अन्य जगह उत्पन्न हुए जीव हों, सभी मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। यह बात क्या असत्य है ? असत्य हो तो पहिले इसका ही निर्णय कर लिजिए। यहाँ कोई किसीका बन सका क्या ?

पुराण पुरुषोंके जीवनसे ज्ञातव्य जीवन प्रयोजन— पुराणोंमें हम पढ़ते हैं बड़े बड़े घराने, ऊंचे राजा महाराजा अपने कुटुम्बके बीच खूब रहे, लेकिन अन्तमें उन्हें हुआ क्या ? श्रीराम भगवानका ही चरित्र देख लो, उनके जीवनमें उन्हें कैसे सुख कैसे दुःख कैसे विकल्प बनाने पड़े, कैसे-कैसे उनके चरित्र हुए, आखिर हुआ क्या— सीता अलग अर्जिका हो गई, लक्ष्मण जुदे मर गए, रामचन्द्रजी भी कुछ समय बाद निर्ग्रन्थ अवस्थामें आये, सबका विघटन हुआ। जितने भी समागम हुये उनसे लाभ क्या उठाया, जब बड़े-बड़े राजा महाराजावों की यह स्थिति हुई तो फिर यहां के छोटे-छोटे पुरुष अपने उस छोटेसे कुटुम्बमें रहकर मोह ममताको बढ़ाया और यही माना कि ये मेरे सर्वस्व हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, ये ही मेरा हित करने वाले हैं, यह कितनी बड़ी भारी भूलकी बात है, सच्चा ज्ञान तो रखिये— देव, शास्त्र, गुरुकी पूजामें। अन्तमें लिखा ना—कीजै शक्ति प्रमाण शक्ति बिना सिरधा धरै, द्यानत सिरधावान, अजर अमर पद भोगे रे। शक्ति अनुसार अपनी शक्ति न छिपाकर अपने कर्तव्य को कीजिए। प्रथम तो योग्यता इतनी हो

हो कि श्रद्धा तो रखिये। श्रद्धावान् पुरुष अजर अमर पदको प्राप्त कर लेगा। श्रद्धासे जहां च्युत हुए, फिर मार्ग न मिलेगा।

स्वरूपश्रद्धान, विवेक और स्वरूपरमणकी वृत्तिका लक्ष्य—हे आत्माहितैषी आत्मन्! अपने स्वभाव की श्रद्धा लीजिये। मैं स्वरूपमें आनन्दरूप हूं, मुझमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, किसी प्रकारका विकार मेरे स्वरूप में नहीं है। परिणमन तो हो रहा है लेकिन मेरे स्वभावसे उठकर नहीं होता। वह किसी उपाधिको पाकर विकारभाव होता है। अपनी सही सही श्रद्धा रखें, मैं वास्तवमें क्या हूं? इसका सही निर्णय अवश्य कर लेना चाहिये। उसका ही निर्णय न किया तो धर्म कहां करना और क्या करना? उस ही का पता न हो तो धर्मकार्य क्या होता? मैं एक स्वभावी ज्ञानदर्शन मात्र चैतन्यतत्त्व हूं, इस मेरेके साथ किसी भी परभावका, किसी भी परतत्त्वका, परद्रव्यका संबन्ध नहीं है। मैं बिगड़ता हूं तो अपने आपमें भावों द्वारा, सुधरता हूं तो अपने आपमें भावों द्वारा। मेरा कोई रक्षक नहीं। पंचपरमेष्ठी मेरेको शरण हैं, पर वे व्यवहारमें शरण हैं, याने उनका आश्रय पाकर उनकी संगति पाकर अपने अपने आपमें एक ज्ञान परिणाम करते हैं, भाव विशुद्ध बनाते हैं तो हमारे लिए हम ही शरण होते हैं। मैं ही अपनी परिणति न सुधारूं तो पंचपरमेष्ठी भी मेरा हाथ पकड़कर यों तार न देंगे। हम ही उल्टे चलेंगे तो व्यवहारमें वे भी शरणभूत नहीं हो सकते, इससे अपनी प्रकृति अपनी शांतिकी जिम्मेदारी अपने आप पर समझकर जिस प्रकार शांतिका मार्ग मिले वह विधि बनाना चाहिये। वह विधि है रत्नत्रयकी। जिनेन्द्र ने स्पष्ट बता दिया है करके और दिव्यध्वनि के भी कि भाई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्षका मार्ग है अर्थात् अपने सहजस्वरूपका विश्वास करें, अपने आपका ज्ञान करें और अपने आपमें अपना उपयोग बसायें तो इस विधिसे संसारके सारे संकट छूटेंगे। अन्य विधिसे संसारके संकट न छूटेंगे। शुद्धोपयोग, निर्मल परिणाम, अविकारीभाव यही परिणाम हमारे लिए शरण हैं, और बाहरी बाहरी रागद्वेष मोह स्नेह आदिकके परिणाम हमारी बरबादीके ही कारण हैं, शरणभूत नहीं हैं।

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥

रत्नत्रयधारी मुनिवरोंके भी रागमें शुभप्रकृतिबंधका कारणपना—यहां श्रावकोंके आचरणके प्रसंग में यह प्रकरण चल रहा है कि श्रावक जन जो व्यवहार रत्नत्रय पालता है, भक्ति व्रत संयम नियमका पालन करता है तो उस समय क्या उनको उससे पुण्यका ही बंध होता है? समाधानमें यह बताया है कि भक्ति आदिक रूप परिणाम केवल रागसे नहीं होता। वैराग्य भी हो और राग भी हो तो अरहंत भगवानकी भक्ति नहीं है, सिर्फ रागसे तो विषय-पोषण होता है और सिर्फ वैराग्यसे निर्विकल्प ध्यान होता है और भगवानकी भक्ति तब बन सकती है जब वैराग्य भी हो और अनुराग भी हो। तो इसमें जो अनुराग है वह तो बंधका कारण है और जो वैराग्य है वह निर्जराका कारण है। यहां शिष्यका फिर यह प्रश्न है कि रत्नत्रयधारी मुनियोंके देव आदिक बहुतसी पुण्यप्रकृतियोंका बंध होता है। करणानुयोगमें भी बताया है। यहां कर रहे कि रत्नत्रय बंधका कारण नहीं है, मोक्षका हेतु है। रत्नत्रयधारी मुनिदेव आयुमें जाता है तो यहबात कैसे सिद्ध होगी? शंकाकार यह चाह रहा है कि रत्नत्रय भी बंधका कारण होगा। अपूर्व रत्नत्रय कर्मका बंध कराता है ऐसा उसका प्रश्न है अथवा बंधका कारण और कुछ हो तो बतलावो। यदि और कुछ नहीं मालूम होता तो रत्नत्रय बंधका हेतु बना, उसके समाधानमें कहते हैं कि—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

रत्नत्रय तो निर्वाणका ही कारण है, पर रत्नत्रयके होते संते भी जो देव आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बंध होता है उसमें शुभोपयोग कारण है, शुभ अनुराग कारण है, अनुभवसे ही विचारो, रत्नत्रय नाम है आत्माके सहज स्वभावका निश्चय होना, आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान बना रहना और उस सहज चैतन्य मात्र आत्मामें रमना—ये

तीन बातें चाहे अपूर्णरूपमें मिलें किसी को, पर ये तीन बातें आत्माके स्वभाव से सम्बन्ध रखती हैं। तो आत्मस्वभाव से सम्बन्ध रखने वाला यह तत्त्व किस बंधके कारण बन सकता है ? हाँ इस रत्नत्रयके पालते हुए भी जो राग शेष रहा है, जिसके निमित्तसे आत्मामें रागभाव बन रहा है, भक्ति, दया, दान, व्रत नियम परिणाम बन रहा है वह शुभोपयोग है और यह शुभोपयोग बंधका कारण है। मुनीश्वरोंके जो देव आयुका बंध होता है वह रत्नत्रयके कारणसे नहीं होता, किन्तु जो अनुराग है, शुभोपयोग है, विकल्पहै, भगवद्भक्ति है, व्रत नियम पालन है, समिति आदिकका पालन है इसमें जो अनुराग बना है वह बंधका कारण है, न कि रत्नत्रय बंधका कारण है।

आत्माको निर्बन्ध करनेका उपाय– भैया ! आत्माको निर्बन्ध करने का उपाय केवल आत्मामें लगना है। आत्माका परिचय और आत्माके निकट ही अपने ज्ञानको बैठाले रहना यही निर्बन्ध होनेका उपाय है। संसार के दुःखसे छूट जावे, कर्मोंका बन्धन छूट जावे, आत्मा आत्माके असली स्वरूपको जाने। जो बात शाश्वत है तन्मात्र मैं हूँ ऐसा अनुभव बनायें इसके विपरीत जब ऐसा अनुभव बन जाता, ज्ञान किया जाता कि मैं अमुक नगरका हूं, अमुक मोहल्लेका हूं, अमुक घरका हूं इतनी पोजीशनका हूं अथवा अमुक परिवारका हूं, अमुक कुलका हूं यह देहको भी देखकर ऐसा आकार वाला हो इस प्रकारका जब भाव रहता है तो वहां बन्धन ही बन्धन है। कर्मोंका बन्धन है और विवशताका भी बन्धन है और जब सर्वविकल्पोंको शान्त करके मात्र यह भाव रहता है कि मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरे न घर है, न देह है, न पोजीशन है मैं तो एक चैतन्यमात्र हूँ, दुनियासे अपरिचित, ऐसा अपने को प्रतिभासमात्र प्रतीतिमें लें तो यह ही बन्धनसे छूटनेका उपाय है और यह बात बने तो सही, फिर सारे दुःख दूर होंगे। ये भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिककी वेदनायें, जन्म मरणके क्लेश, ये सब शांत होंगे एक अपने आत्मस्वरूपकी लगन रखने से। जब भी हम सुखी होंगे, शांत होंगे तो इसी उपायसे। हम इस ही उपाय को करने में जितना विलम्ब लगायेंगे उतना संसारमें भटकेंगे। करना होगा अन्तमें यही। अगर शान्त होना है, सुखी होना, पवित्र बनना है, निर्बन्ध होना है तो करना यही होगा अपने आत्माका लगाव। ये सारा समागम जो प्राप्त हुआ है चेतन अचेतन वैभव कुटुम्ब परिवार आदिक यह सब वैभव कबसे मिला है, कब तक रहने का है और इसमें मेरा तात्त्विक क्या सम्बन्ध है, क्या यह परिवार मेरे साथ सदा से चला आया, ये जीव क्या मेरे बनकर रहेंगे ? उनसे मेरा कोई रिश्ता नहीं है। जगतमें अनन्त जीव हैं, अटपट आ गये, उन्हींमें मोह करने लगे, पर सम्बन्ध नहीं है किसी जीव से कि ये मेरे कुछ लगते हैं। तो इन समागमोंमें मौज मानने से तो अपने जीवनके क्षण ही गुजारे जा रहे हैं, जब तक अपने आपमें बसा हुआ दिव्य प्रकाश जिसकी दृष्टि करने मात्रसे अपूर्व शांति प्राप्त होती है, उस स्वभावको उपयोग में नहीं लेते हैं तो अशांति ही अशांति है।

उपेयको उपयोगमें लानेका उपाय—अब स्वभावको उपयोगमें लेनेका उपाय क्या है, जिस उपायको करें तो उपेय मिले। जब हम उसका कभी उपाय न बनायें और चाहें कि मिल जाय तो कैसे मिले ? उपायोंमें पहिलेतो एक चाहिये सत्संगति। इस ही धुनिमें लगे हुए जो आत्मकल्याण चाहते हैं, धर्मकी जिनके धुन लगी है, जो संसारसे मुक्त होना चाहते हैं, जिन्होंने धर्म वैभवको सर्वस्व नहीं माना ऐसे पुरुष चाहे श्रावक हों, चाहें त्यागी हों, उनकी संगति होना यह बहुत जरूरी चीज है। हर एक गांवमें हर एक मोहल्लेमें ५—७ पुरुष ऐसे होते हैं पर वे बिछुड़े-बिछुड़े रहते हैं, अपने-अपने घरमें रहते हैं, एकत्रित होकर नहीं रहना चाहते अथवा आलस्य करते हैं एक जगह इकट्ठा बैठने में तो फिर प्रेरणा नहीं मिलती है, स्वच्छन्दता मनमें आ जाती है, तो एक तो सत्संगति अत्यन्त आवश्यक है। न मिले बहुत बड़ी सत्संगति हमें अपने सरीखों की ही संगति मिले, पर घण्टा आध घण्टा संगतिमें बैठकर चर्चा करके, स्वाध्याय करके आत्माकी बातकी जाय यह रोज आवश्यक है। नहीं करते तो मनमें उत्साह नहीं रहता है, दूसरी बात स्वाध्याय अधिक होना चाहिये। समय जब भी मिले सुबह शाम अथवा दोपहरको ही दो तीन घण्टा दो तीन बारमें कोई अध्यात्म ग्रन्थोंका स्वाध्याय होना चाहिए। लग ऐसा रहा होगा कि इसमें कुछ कष्ट करना पड़ता है, कुछ प्रयत्न

करना पड़ता है, लेकिन उपाय किए बिना, काय क्लेश किए बिना हम सत्पथ की बातको कैसे कर सकते हैं ? हम सन्तोषके मार्गमें चलना चाहते हैं तो उसके व्यवहारिक उपायमें भी लगना चाहिये । वह व्यवहारिक उपाय दो बातों में बंटा है—एक स्वाध्यायहो और एक सत्संग हो तो उससे एक ज्ञानधाराके लिये उत्साह मिलेगा । भीतरमें यह प्रेरणा मिलेगी कि मैं अपने ज्ञानको ऐसा बनाऊं कि मैं ज्ञाता द्रष्टा रहूं, किसीको अपना न समझूं, जान जायें कि ये भी हैं कोई । घरमें रहने वाले पुत्रादिक ये भी जीव हैं, ये धन वैभव, ये मकान महल, ये ठाठ बाट सब मुझसे न्यारे हैं, जब देह भी मेरा साथ देने वाला नहीं है तो फिर और कुछ क्या साथ देगा ? इस प्रकारके विचार बनाकर मोह ममताका परित्याग करें । सत्संगति और स्वाध्यायका विशेष उपक्रम करके हम अपने आत्मस्वभावका संस्कार बनायें, उसका दर्शन करने की प्रेरणा लेते रहें तो यह हमारे जीवनमें एक अपूर्व साधना बनेगी ।

रत्नत्रयसे सत्प्रकृतियोंके बंधनका अभाव और रागसे बंधनकी सिद्धि—श्रावकजन जो कुछ भी धर्मप्रवृत्ति करते हैं भक्ति दया दान नियम संयम आदिक उन सबमें जितने अंशमें वैराग्य है, रत्नत्रय है उतने अंशमें इसके बन्धन होता है, गुणस्थानोंके अनुसार मुनीश्वरोंके जहाँ रत्नत्रयकी आराधना है अर्थात् जहाँ वे अपने आत्म-स्वभावको निरखते हैं, उसका उपयोग बनाते हैं, उसमें स्थिर रहनेका यत्न करते हैं तो वे मुनिजन भक्ति दान शील उपवास देव गुरु शास्त्रकी सेवा आदिक शुभोपयोग भी करते हैं । तो यह जो शुभोपयोग है, यह जो देव आयु जैसी पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध कराता है और जो उनका अपने आत्माके अन्दरमें लगाव है वह लगाव कर्मनिर्जरा कराता है । तो जो देव आयुका बंध मुनिजनोंके हो जाता है उसमें रत्नत्रय कारण नहीं है, किन्तु शुभोपयोग कारण है । यह बात अवश्य है कि रत्नत्रय हुये बिना सर्वार्थसिद्धि आदिक विमानोंमें उत्पन्न नहीं हो सकती । उस बंधमें रत्नत्रय कारण नहीं किन्तु जो राग चल रहा है उस रागसे बन्धन है । तो जैसे तीर्थंकर आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बंध रत्नत्रयके सम्बन्धसे होता है ऐसे ही जो विशिष्ट पुण्य प्रकृतियां हैं चक्रवर्ती आदिककी ये भी सम्यग्दृष्टिके होते हैं, फिर चाहे चक्रवर्ती होकर सम्यक्त्व न रहे, नारायण जैसी पदवी को जो प्राप्त करते हैं उनको भी सम्यक्त्व हुआ था लेकिन पीछे कुछ निदान बाँध लिया, कुछ डिग गए और नारायणका भव पाकर विशेष राज्योंमें विषयोंमें मस्त हो गए, तो बिगाड कर लिया, मगर उच्चसे उच्च वैभव सम्यक्त्वके होने पर प्राप्त होता है । सांसारिक वैभव भी सम्यग्दृष्टि पा सकता है मिथ्यादृष्टि नहीं ।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्ध कार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ।।२२१।।

एक वस्तुमें विरोधी दो कार्योंका मेल होनेसे वैसा ही विरुद्ध व्यवहार रूढ़िको प्राप्त है अर्थात् एक ही आत्मा में रत्नत्रय भी है और शुभोपयोग भी है अर्थात् दोनोंका मेल है और होता है उनके पुण्य प्रकृति का बन्ध तो यों रूढ़िसे कह देते कि देखो सम्यग्दर्शन हो तो उसको ऐसी पुण्य प्रकृतिका बंध होता, पर पुण्य प्रकृतिका बंध सम्यग्दर्शन से होता है । जैसे घी जला देता है अग्निके सम्बन्धसे तो उस समय वहाँ दो का मेल है । घी भी है और उष्णता भी है तो लोग यों कह देते हैं कि देखो घी ने कैसा अन्न जला दिया, पर घी के नीचे जो अन्न है वह तो जलानेका कारण नहीं । उसमें जो उष्णताका सम्बन्ध है वह जलानेका कारण है, ऐसे ही रत्नत्रयका जो निजी गुण है वह तो बंधका कारण नहीं किन्तु उसके साथ जो शुभोपयोग और अनुरागका संबंध है वह जलाता है, मगर व्यवहार यह हुआ कि जैसे घी ने जला दिया ऐसे ही देखो सम्यक्त्वके होने पर जहाँ और-और चीजें बताई हैं कि सराग संयम करना, दया दान करना और इनके बारेमें कहते हैं कि ये देव आयुका बंध कराते हैं, वहाँ यह मानना कि सम्यक्त्व भी देव आयुके बंधका कारण है । वह व्यवहार भाषामें लिखा है । उसका अर्थ यह लगाना चाहिये कि सम्यक्त्वके होनेपर यदि किसी आयुका बंध हो तो देव आयुका बंध होगा नरक तिर्यञ्च मनुष्यकी अपेक्षा । देव सम्यग्दृष्टि हो तो उसके मनुष्य आयुका बंध होगा । हाँ नारकी सम्यग्दृष्टि है तो उसके भी मनुष्य आयुका बंध है, और मनुष्य है सम्यग्दृष्टि तो

उसके देव आयुका बंध है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये गुण भी किसी भी प्रकृतिके बंधके कारण नहीं हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका बंध सम्यक्त्व नहीं कराता। सम्यक्त्वके होने पर जो समस्त प्राणियोंके उद्धारकी भावना है, ये कैसे संसार के संकटोंसे छूटें, छूटनेका एक थोड़ा ही तो उपाय है अपने आत्माकी ओर उन्मुख होना, इतना नहीं किया जा रहा है इन जीवोंसे। यह दृष्टि प्राप्त हो, सबके प्रति ऐसी करुणा जगती है उसके कारण तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

स्वभावमें बन्धकताका अभाव—यहाँ यह निर्णय रखना कि मेरे आत्माका स्वभाव निर्बाध है, स्वभाव बंधके लिए नहीं हैं, स्वभाव मुक्तिके लिए है उस स्वभावका लगाव, उस स्वभावका परिचय, उस स्वभावमें रमना, ये सब बंध छुड़ानेके लिए हैं, बंध करानेके लिए नहीं हैं। यदि स्वभावका विकास ही बंधका हेतु बन जाय तो फिर मुक्तिका क्या उपाय है ? अपने आपके उस स्वभावको दृष्टिमें लेना जो सदा मुक्त हैं, सहज मुक्त है यही मुक्तिका उपाय है। अनादिकालसे अब तक हम रुलते चले आये लेकिन स्वभाव की कला अगर देखो तो वह स्वभाव तो सदा ही विकारसे मुक्त है। चैतन्यमें विकार आया है पर स्वभावमें विकार नहीं आया। जैसे जलमें तो गरमी आयी है पर जलके स्वभावमें गरमी नहीं आयी, जो जल गरम हो गया अग्निपर रखनेसे अदहन हो गया तो जलमें तो गरमी आयी, पर जलके स्वभावमें गरमी नहीं बसी है। अगर जलके स्वभावमें गरमी हो जैसे कि अग्निके स्वभाव में गरमी है तो फिर जलको भी सदा गरम रहना चाहिए पर ऐसा है नहीं। कितना भी गरम जल रखा हुआ हो पर लोग उसे ठंडा कर लेते हैं। जो भी उस जलको ठंडा करते हैं उनके चित्तमें यह बात बसी हुई है कि यह जल स्वभाव से ठंडा है। अगर यह बात चित्तमें बसी न हो तो जलको कोई ठंडा क्यों करे ? तो जैसे जल गरम हो तो भी उस जलका स्वभाव ठंडा रहना है इसी प्रकार जीवमें विभाव आते हैं विकार होते हैं पर जीवके ये स्वभाव नहीं हैं। कितने ही विकार हममें आ गये हों फिर भी हम उद्धारके पात्र हैं, हम फिर भी विकारोंसे छूट सकते हैं, हम अपनी शान्ति का मार्ग बना सकते हैं। क्यों बना सकते हैं कि विकार मेरे स्वभावमें न थे, न हैं, न होंगे। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसे अपने स्वरूपसे अपने ही रूप रहते हैं तो जलमें जैसे गर्मी बर्त रही है, जल पीवेंगे तो मुंह जल जायेगा उस जलसे नहावेंगे तो शरीर जल जायेगा, इतनी गरमी हैं जलमें, मगर जलके स्वभाव पर जब हम दृष्टि देते हैं तो यह कहना होगा कि जलके स्वभावमें गरमी नहीं हैं और यह बात सबको विदित है, चाहे इन शब्दोंमें न कह सके पर जानते सब हैं तभी तो गरम जल को परातमें फैलाकर पंखासे ठंडा कर लेते हैं। उनको भीतरमें यह परिचय है कि जलके स्वभावमें गरमी नहीं है तब वे उस गरमीको हटा देंगे। जो यह जानते हैं कि जलके स्वभावमें गरमी नहीं है वे ही पुरुष जलको ठंडा बना सकते हैं। इसी तरह जो जानते हैं कि मेरे आत्माके स्वभावमें विकार नहीं हैं वे ही पुरुष ऐसा उत्साह बना सकते हैं कि इन विकारोंको हटा दें। अविकारस्वभावी आत्मतत्त्वका ध्यान करके अपने को विकार रहित परिणति में ला दें, यह उत्साह उनके ही हो सकता है जिनका यह दृढ़ निर्णय है कि आत्मामें विकार आ जाते हैं पर आत्माके स्वभावमें विकार कभी नहीं आते। यों अविकारस्वभावी चैतन्यस्वरूपकी उपासनासे ही हमारा उद्धार होगा, शान्ति मिलेगी।

बन्धनका मूल राग—हम यहाँ लोगोंको क्या देखें, इन लोगोंसे क्या आशा करें, इनमें अपने नामकी इज्जत पोजीशनकी क्या धुनि बनायें, ये लोग कोई भी मेरा हित न कर देंगे, ये कोई मेरे रक्षक नहीं हैं, मेरा आत्मा ही मेरा रक्षक है, उसकी दृष्टि बने तो मुझे शान्ति है। सभी परिस्थितियोंमें मुझे शान्ति होती हैं अपने अविकारस्वभावी आत्मतत्त्वको निरखनेसे। चीज यहाँ यह आ पड़ती है कि दो धारायें साथ चल रही हैं—कर्मधारा और ज्ञानधारा। कर्मधारा है अज्ञानी जीवकी और ज्ञानधारा है ज्ञानी जीव की। ज्ञानी पुरुषके ज्ञानकी वृत्ति चल रही है और रागवृत्ति भी। तो जब हम उस अज्ञानकी बात देखते हैं और कर्मबंध भी होता है यों भी निरखते हैं तो रूढ़ि से हम ऐसा कह देते हैं कि देखो ज्ञानीके भी कर्मबन्ध हुआ। अरे वहाँ यह कहो कि रागमें बन्ध हुआ। जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है और जो ज्ञान है उस ज्ञानदृष्टिसे उसमें बंध है नहीं। तो यों निरखना कि जितना हमारा

लगाव है आत्मा की ओर वह पुरुषार्थ तो मोक्षका कारण है और जितना हमारे बाह्य भक्ति, दया, दान, नियम, संयम में अनुराग बना है वह बंधका कारण है। मेरे आत्मस्वरूपका लगाव कभी भी बंधका का कारण नहीं हो सकता है। ऐसा निर्णय रखना और अपने अविकार स्वभावकी प्रतीति रखना, जिसके बलसे हम अविकारी परिणति बना सकते हैं।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥

अपने आपके सहजस्वरूपकी रुचि होना और इस ही सहजस्वरूपका उपयोग बनाये रहना, इस ही में अपने आपको मग्न करना यह ही एक मोक्षका उपाय है। इसे निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। ऐसा पुरुषार्थ साक्षात् मोक्षमार्ग है, तत्काल शान्तिको देने वाला है और ऐसा ही अनुभव करने वाले पुरुष जब इसमें नहीं टिक पाते हैं तो उनकी वृत्ति अष्ट अंग रूप सम्यग्दर्शनकी होती है और अष्टाङ्ग सम्यग्ज्ञानकी और तेरह प्रकारके सम्यक्‌चारित्रकी वृत्ति होती है उसे व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रय इस आत्माको उत्कृष्ट पदमें पहुँचा देता है। इस आत्माको अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मतत्त्वकी भक्ति उत्पन्न होती है। उसके भव भवके बाँधे हुए कर्मोंकी बेड़ियां टूट जाती हैं। अपने आपके उस परमात्मस्वरूपको अपने उपयोगमें विराजमान कर इसका ही वह भक्त स्तवन करता है। हे नाथ! तेरे दर्शन बिना अब तक संसारमें अनन्त काल जन्म मरण किया, मैंने बाहरमें विकल्प कर करके सभीका समागम किया, पर तेरे स्वरूपको जाने बिना अशान्ति नष्ट न हो सकी। हे नाथ! हे आत्मस्वरूप, हे शुद्ध ज्ञान दर्शन, हे विशुद्ध चैतन्य! अपने आपमें विराजमान हे चित्प्रकाश! तेरा आलम्बनलिए बिना जगत्‌में और कहीं मंगल नहीं है। तू ही मङ्गलस्वरूप है, तेरा ही शरण वास्तविक शरण है। बाहरमें कहां आशा करूं? किसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करूं, बाहरमें कोई मेरा प्रभु नहीं, कोई मेरा रक्षक नहीं। है ही नहीं कोई, किन्तु हे निजस्वरूप, तू भी एक ऐसा शरणभूत तत्त्व है कि तेरे लिए यदि मैं सर्वस्व समर्पित कर दूं अर्थात् तेरी भक्तिमें सर्व कुछ त्याग कर दूं तो तू ऐसा शरण है कि हे प्रभु! सदाके लिए मेरे संकट दूर हो सकते हैं।

आत्मस्वरूपको प्रसन्न करनेकी विधेयता— भैया! आत्मस्वरूपको प्रसन्न करने के लिए उद्यम करना चाहिए। बाहरमें किसी को राजी करके कुछ प्राप्त न होगा। अपने आपको अपना स्वरूप अपने आपकी दृष्टिमें रहेगा, मैं इसके निकट बसा रहा करूंगा, तो मुझे शान्ति है, मुझे सब कुछ शरण है। आत्मतत्त्व की लगन नियमसे उत्कृष्ट पदको प्राप्त करा लेती है। यह विषयोंकी लगन चतुर्गतिमें भ्रमण कराकर दुःखी कर रही है, यह जीव केवल लगन ही कर सकता है और क्या करेगा? इन असार सांसारिक भोगोंमें लगन करके तो अशान्ति मिलेगी और दुर्गति में भ्रमण करना पड़ेगा। अपने आपके केवल ज्ञानज्योति स्वरूपमें लगन करेंगे, उसके निकट रहनेका यत्न करेंगे तो शान्तिकी प्राप्ति होगी। यही एक विशुद्ध मार्ग है। जहाँ इन चर्मचक्षुओंको पसारकर इन नेत्रोंसे निरखकर बाहरमें लगाव किया और बाहरके लोगों को अपना कुछ हितकारी जानकर उनको प्रसन्न करने के लिए धनी बननेकी होड़ की, कुलवान बननेकी होड़ की और नाना विकल्प किया बस समझिये कि पर्यायबुद्धिके कारण मैंने अपना सब कुछ गंवा दिया। मोह में इस जीवको जो चीज बरबादीका कारण है वह प्रिय लगती है और जो संसारके संकटोंसे छुटाने का कारण है, शान्तिका कारण है वह चीज इसे प्रिय लगती है। यह सब इस मोह मिथ्यात्वका विषपान करनेका फल है। धन्य हैं वे जीव जो वीतराग होते हैं जिनकी देव देवेन्द्र तक भी समवशरण आदिक विभूति बनाकर उनका अर्चन प्रणाम करते हैं। महत्त्व तो वीतरागताका है। विषय और रागके आचरण का क्या महत्त्व? जब ज्ञान जगता है तब परिचय होता है। शास्त्रोंमें बहुत कहते सुनते आये कि पञ्चेन्द्रियके विषय असार हैं और मनका विषय लोकेषणा, लोकमें अपनी कीर्ति चाहना, ये सब विषय असार हैं। सुनते चले आये, ज्ञान होने पर स्पष्ट भान होने लगता है कि बस वास्तव में ये समस्त छः विषय असार हैं, आत्माकी बरबादीके कारणभूत हैं। जब उपेक्षा होती है, अपने आपके स्वरूपके निकट यह आता है और अपने अनादि कालके बन्धनको दूर करके परमपद प्राप्त करता है।

नित्यमपि निरुपलेप: परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ।।२२३।।

नित्यनिरुपलेपपरमपुरुषका परमपदमें अवस्थितता—यह नित्यकर्मरूपी रजसे रहित होकर, अपने स्वरूपमें अवस्थित होकर अत्यन्तनिर्मल यह परम आत्मा एक आकाशकी तरह परमपदमें प्रकाशमान होता है। जैसे आकाशमें धूल नहीं चिपटती, आकाश निर्लेप रहता है इसी प्रकार जो अपने आत्माके स्वरूपके दर्शन करते हैं, अपने आपके स्वरूपके निकट बसते हैं ऐसे पुरुष भी निर्लेप रहते हैं और कर्म नोकर्मके बन्धन को समाप्त करके सदाके लिए निरावरण सदा आनन्दरूप परमपदमें निवास करते हैं। अपने आपके निकट बसनेकी सारी महिमा है, बाहरमें किसी पदार्थकी ओर अपना उपयोग लगानेसे ये सारी विडम्बनायें हैं। इतना ही उपदेशका मर्म है कि अपनी ओर दृष्टि लगायेंगे तो आनन्दमग्नताका लाभ है और परकी ओर दृष्टि लगायेंगे तो केवल बन्धन है, कर्मबन्ध है, आकुलता है, यह बात अनुभव करके देख लो, अपनी ओर बसनेमें, परके विकल्प हटानेमें शान्ति लाभ होता है या नहीं और परकी चिन्ता रखने में, परकी जिम्मेदारी रखने में, परकी दृष्टि आलम्बन करने मे इस जीवको अशान्ति लाभ है या नहीं। इतनी मात्र दृष्टि हो कि मैं कुछ लोगों को बताऊं, उद्धार करूं, कुछ समझाऊं इतने तकमें तो अशान्ति है, फिर जो विशेष दृष्टि बने बाहरकी ओर तो उनकी अशान्तिका तो कहना ही क्या है? स्वरूपमें अवस्थित रहना इतना मात्र शान्तिका उपाय है, फिर बाहरमें क्या होता है, कितना धन रहता है, गरीबी आती है, कोई परिस्थिति होती है तो क्या होता है? जो होता है सो हो। यही है एक बड़ा भारी त्याग। बाह्यवस्तुवोंकी उपेक्षा करके अपने आत्मस्वरूप की लगनमें लगना यह है एक बहुत बड़ाभारी त्याग, बहुत बड़ा भारी बलिदान। इन समस्त आरामोंकी ममता छूटे, इस शरीरके संस्कारोंकी वासना छूटे और एक सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें चित्त लगे यह तो एक उत्कृष्ट तपश्चरण है, अपने आपमें एक महान् पुरुषार्थ किया गया है, यही तारने वाला पुरुषार्थ है, बाकी तो और सब गप्पसप्प है, विडम्बना है, कहाँ चित्त लगाया जाय, किसको प्रसन्न किया जाय, किसके ढिग रहकर अपने को शरण कर लिया जाय?

कृतकृत्य: परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ।।२२४।।

कृतकृत्य परमानन्दनिमग्न ज्ञानमय परमात्मतत्त्वका अभिनन्दन—अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी रुचि हो, मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारका ज्ञान हो और ऐसी ही अपने स्वरूपमें लीनता हो तो यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। जब कभी भी ज्ञान हो कि मैं बाहरी पदार्थोंमें कुछ कर नहीं सकता, वे भी अपनी सत्तासे परिपूर्ण हैं, मैं अपने सत्त्वसे परिपूर्ण हूं, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है, परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परमें है, एकका स्वरूप दूसरे में नहीं जाता, क्योंकि सभी पदार्थ स्वरूपत: सत् और परिपूर्ण हैं, तब फिर यह मैं आत्मा जो कुछ कर सकता हूं सो अपने भावोंका परिणमनमात्र कर सकता हूँ, भला करूं बुरा करूं, शुद्ध करू, निर्लेप करूं, जो कुछ कर सकता हूं अपना परिणमन कर सकता हूँ। बाहरी पदार्थमें तो मैं कुछ कर ही नहीं सकता। एक जब ऐसा निर्णय होता है तो कृतकृत्य तो यही बन गया, मेरे को बाहरमें कुछ करने को रहा ही नहीं, जो कुछ करता हूं सो अपने आप करता हूँ। इतनी बुद्धि आने पर ही यह जीव कृतकृत्यताका अनुभव करता है, तो यह जीव कृतकृत्य होकर कर्मोंसे जब रहित होता है उस समय की स्थिति बतलाते हैं कि लोकमें समस्त पदार्थ सत् और असत् उसके ज्ञानमें स्पष्ट झलकते हैं और वह परमात्मा परम आनंदमें निमग्न है, ये संसारके आनन्द, विषयोंके आनंद ये बड़े धोखे से भरे हुये हैं, इस जीवको कुछ मौजका लोभ दिखाकर इसे बेसुध करते हैं, ये विषयोंके आनंद इस जीवको जन्म मरणकी परम्परामें रुलाने वाले हैं इन समस्त धोखा वाले विषयोंके आनंदसे रहित केवल एक आत्मीय आनन्दमें जो अतिशयरूपसे मग्न है वह परमात्मा केवल ज्ञानस्वरूप, कर्म है नहीं, शरीर है नहीं, रागादिक विकार हैं नहीं, केवल एक ज्ञानका ही विकास है, ऐसा ज्ञानमय वह

मुक्त आत्मा सर्वोपरि उत्कृष्ट जो मोक्षपद है उसमें निरन्तर ही आनंदको भोगता रहता है। वे गुरु जो कर्मों से रहित हो जाते हैं वे क्या करते हैं? उनके ज्ञानमें सारे विश्वका ज्ञान जाननेमें आता रहता है और विशुद्ध परमआनंद का अनुभव करते रहते हैं, और कुछ नहीं करते। विकल्प विभाव विचार वहाँ नहीं हैं, एक विशुद्धस्वरूप रह गया। यही विकास मेरा हो ऐसी भावना करें। लोकमें मेरा चमत्कार हो, प्रकाश हो, लोग मुझे कुछ समझें, मेरा महत्व हो अथवा कुछ पर दृष्टि बनाकर अपने को रीता करके कुछ बोलना चालना ये सारी बातें अनर्थ हैं, अर्थभूत हैं तो एक अपनी दृष्टि और विशुद्ध आनंदका जो अनुभव है। वही प्रकट हो। यही एक अपना लक्ष्य हो, इसीके लिये जीवन है।

स्वहितमें अपना लक्ष्य, विचार और प्रयत्न—अपना लक्ष्य यह बने कि हे प्रभु मैं अपने स्वरूपमें बसूं और अपने स्वरूपका ही अनुभव करूं। बाहरमें मैं कुछ नहीं चाहता, क्योंकि चाहने से लाभ क्या? अन्तमें सब छूटेगा। इन बाहरी पदार्थोंसे कुछ भी शांति नहीं है, निराकुलता नहीं है, विह्वलता नहीं है। यह लौकिक प्रशंसा लौकिक ठाठबाट यह चमत्कार ये सब भी मेरे शत्रुरूप बनते हैं। मैं अपने आपमें रहूं। मुझे कोई मत जानो। मैं भी किसी को न जानूं, अपने आपमें गुप्त रहकर अपने आपमें ही स्थिर रहूं, ऐसी स्थिति मिले तो सब कुछ मिला। यह स्थिति न मिली तो कुछ न मिला। बड़े बड़े देवेन्द्रोंका विभूति, बड़े-बड़े सम्राटों की विभूति, आखिर इनमें सार क्या है? परकी ओर दृष्टि देना बस यही तो असार काम है, यही विरुद्ध, अपवित्र, मलिन काम है। जब इतनी मलिनता वहां बस गई तो वहाँ शांतिका उदय कैसे हो सकता है? नियमसे परकी दृष्टि आकुलता रूपही होती है, वह अशांति का बीज ही है। स्वदृष्टि बने, परकी अपेक्षा हो, परकी लगन मिटे, अपने सहजस्वरूपकी लगन बने, केवल इस भावना को करते हुये अपना जीवन गुजारिये। श्रावक हुए, परिवारका समागम मिला तो भी क्या चिंता? सभी जीव अपने-अपने कर्म लिये हुए हैं उनका उदय विपरीत है तो मैं चाहे जितना प्रयत्न करूं पर वे सुखी नहीं हो सकते और यदि उनका उदय अनुकूल है तो सहज ही ऐसा योग मिलता जायेगा कि उनका वैभव बढ़ता जायेगा। सभीके साथ कर्म लगे हैं फिर किसकी चिंता करना, किसकी जिम्मेदार समझना? अरे आत्मन्! तू अपना ही जिम्मेदार मान, तू अपना ही अपनेमें कुछ कर सकता है, बाहरमें तेरा कुछभी अधिकार नहीं। अधिकार समझना केवल कल्पना है, भ्रम है, विकल्प है, सो तू इस कल्पना और भ्रमको ही कर रहा है, बाहरमें और कुछ नहीं कर रहा है। जैसे मुक्त आत्मा इसही आत्मीय पुरुषार्थको करके सदाके लिए संकटोंसे मुक्त हो गये, ऐसे ही तू भी आत्मीय पुरुषार्थ करने की धुन रख और दूसरा लक्ष्य मत कर।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

परमहितकरी जैनी नीति—निश्चय रत्नत्रय है अपने सहजस्वरूपका दर्शन ज्ञान और आचरण। व्यवहार रत्नत्रय है निःशंकित आदि अंगोंका पालन। विनय आदिक सम्यग्ज्ञानके अंगका पालन, महाव्रत आदिक सम्यक्चारित्रके अंगका धारण। हमें निश्चयरत्नत्रयका सहारा लेना है या व्यवहाररत्नत्रयका सहारा लेना है ऐसी कोई विवाद वाली समस्या सामने आये तो उसका समाधान स्याद्वादसे कर लेना। व्यवहाररत्नत्रय भी जीवके भलेके लिये है और निश्चयरत्नत्रय भी जीवके भलेके लिये साक्षात् है। जैसे कोई मक्खन बनाने वाली महिला दहीको बिलोती है तो उस मथानीमें जो रस्सी लगती है उसको एक हाथ से वह महिला खींचती है और दूसरे हाथसे रस्सी को ढीला करती है। इस प्रिक्रयासे अर्थात् उस मंथन से सार चीज जो मक्खन है वह बनता है और अन्तमें उन दोनों रस्सियोंको छोड़कर उस मक्खनका संग्रह वह महिला कर लेती है, इसी प्रकार वस्तुके स्वरूपके मंथन के लिये एक नयका खींचना दूसरे नयका गौणकरना, फिर उस नयका खींचना दूसरे नयका गौण करना, यों मुख्य और गौणरूप नयोंकी दृष्टि करके वस्तुरूपका मन्थन होता है। किसी नयका एकान्त करके वस्तुरूप नहीं मथा जाता है लेकिन सब तरह से वस्तुरूपका निर्णय करके अन्तमें करना क्या होता है कि समस्त नयवादोंकी रस्सी को छोड़कर उस मथानीको भी एक ओर टिकाकर एक अनुभवरूप सार एक मक्खन को ग्रहण कर लेना चाहिये। नयवाद तो आत्माका अनुभव कराने के पहिले सार्थक है। केवल नयोंमें ही फंसे रहना यह तो मुमक्षुका प्रयत्न नहीं होता। नयोंका निर्णय करना, फिर समस्त नयों

का त्याग कर एक उस विज्ञान तत्त्वके अनुभवमें लगना, तो जिस प्रकार दही को बिलोने वाली महिला दही मथते समय मथानी की रस्सीको एक हाथसे खींचती और दूसरे हाथसे ढीला करके मक्खन तैयार करती है और बादमें दोनों रस्सियोंको छोड़कर एक मक्खन का संचय करती है, इसी तरह समझना कि यह जिनवाणी द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुके शाश्वत स्वरूप को दिखाती है। पर्यायार्थिकनयसे वस्तुके उस परिणमन स्वरूपको देखते हैं, इन दोनों नयोंसे वस्तुके पूर्ण स्वरूपका यथार्थ दर्शन होता है, इस तरह सब कुछ जान लेने पर यह मुमुक्षु नयवादका परिहार करके एक आत्मानुभव के अनुभवमें प्रवेश करता है, इससे कोई एकान्त न करना। व्यवहाररत्नत्रय हेय ही है ऐसा एकान्त न करना। अरे उसके ही प्रसादसे तो एक निश्चयरत्नत्रयके पात्र बने हैं, उसकी साधनामें लगे हैं, उसका अनुभव करते हैं। तो जिस पदवीमें जिस जगह जो कुछ उपयुक्त होता है ठीक है, अपना एक लक्ष्य यथार्थ बना लें और यथार्थ लक्ष्य करके केवल एक ही अपना ध्येय बनायें। मुझे तो सर्व विकल्प जालोंसे रहित होकर केवल एक ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति बनाना है, यह काम जिन्होंने किया उन्हें चाहे दुनियाका कोई जानता हो या न जानता हो, इससे क्या, वह तो एक परम आनन्दका अनुभव करता है और सदाके लिए संकटोंसे छूट जाता है। इस श्रावकाचारमें पूज्य अमृतचन्द्रसूरिने श्रावकों का आचरण अहिंसाके उपदेशमें बताया है कि देखो रागरहित ज्ञानानन्दस्वरूपका विकास हो उसका नाम अहिंसा है। उस अहिंसाकी सिद्धिके लिए पच प्रकारके पापोंका त्याग करना बताया है। व्रत नियम संयम समाधिमरण आदिक सभी उस अहिंसाकी सिद्धिके लिए बताये हैं, ऐसा श्रावकाचारका वर्णन करनेके पश्चात् अन्तमें एक छन्द द्वारा आचार्य देव अपने अंतिमभाव बतलाते हैं।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

ग्रन्थकारका तत्त्वमर्मसूचक लघुताप्रदर्शन – यह शास्त्र मैंने नहीं बनाया किन्तु वाक्योंने बनाया। यह भावशास्त्र जो एक विचारमें उपस्थित होता है वहाँ पर भी वाक्य हैं जिन अन्तर्जल्पोंसे बोलते हुए यह भाव भावता है और ये द्रव्य शास्त्र जो इन अक्षरोंमें पाये गये, इनमें भी वाक्य बसे हुये हैं, इन वाक्योंने इस पवित्र शास्त्रको बनाया, मैंने नहीं बनाया। अमृतचन्द्रसूरि अपने आपको ज्ञानमात्र आत्मा निरखकर यह कह रहे हैं। वह तो ज्ञानमात्र है मेरा कर्तापन तो केवल मेरे भावों तक ही है। अपने भावोंका निर्माण कर लेना इतना ही मात्र आत्माका काम है। ये शास्त्र जो बने हैं वे वाक्योंसे बने हैं और ये वाक्य बने हैं तो पदोंसे बने हैं, जिनमें स्वर व्यंजन व नाना प्रकार की विभक्तियां हैं। ये पद नाना प्रकार के अक्षरोंसे बने हैं। अपने आपको ज्ञानमात्र अमूर्त अनुभव करने वाले अमृतचन्द्र जी सूरि ग्रन्थरचना के बाद यह कह रहे हैं कि यह ग्रन्थ बन गया, इसमें मैंने कुछ नहीं किया। यह सब वर्णोंका समूह है, पदोंका समूह है, वाक्योंका समूह है। कोई इस पुस्तकको ही शास्त्र माने तो इस शास्त्रका रचने वाला स्याही अक्षर है। कोई इस अक्षर स्याही को ही शास्त्र माने तो वहाँ वह ही उपादान है, कोई अपने भावों को शास्त्र माने तो उसके वे भाव ही उपादान हैं। मैंने कहाँ क्या किया ? मैंने तो केवल अपने भाव भर किया। यों ग्रन्थकार अपनी यथार्थता इस छंदमें कह रहा है। इसको हम एक लघुताके रूपमें भी देख सकते हैं कि आचार्य महाराज इतना विस्तृत विवेचन करने के बाद भी अपनी लघुताको प्रदर्शित कर रहे हैं कि मैंने इस ग्रन्थमें क्या किया ? लेकिन केवल लघुता-प्रधानकी ही बात नहीं, ये आचार्यदेव अपने ज्ञानप्रकाशमें ठहरकर यथार्थ कह रहे हैं कि मैंने शास्त्र नहीं किया। जब मैं वचनोंका भी कर्ता नहीं, ये वचन भाषावर्गणासे उत्पन्न होते हैं तो शास्त्रका मैं क्या करने वाला हूं ? इस प्रकार ज्ञानमात्र अपनेका अनुभव करने वाले अमृतचन्द्र सूरि अपने को कृतकृत्य अनुभव करते हुए और मुझे कुछ करना न था, करना भी नहीं है, यों परमविश्रामकी तैयारीके साथ इस ग्रन्थको समाप्त कर रहे हैं। यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ऐसा ही अनुभव करना सो इस पुरुषके परमप्रयोजनकी सिद्धिका उपाय है अर्थात् समस्त संकटोंसे छूटनेका एक यही मार्ग है कि अपने आत्माको जानना और अपने ही आत्मासे लगन रखना।

● पुरुषार्थसिध्द्युपाय प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ●